- नानेश वाणी -2
  आह्वान अपनी चेतना का (आत्म समीक्षण भाग-1)
- आचार्य श्री नानेश
- प्रथम सस्करण सितम्बर 2001, 1100 प्रतिया
- मूल्य 30/-
- अर्थ सहयोगी श्री साधुमार्गी जैन सघ, हावड़ा
- प्रकाशक
  श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ,
  समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर
- मुद्रक
  अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर
  दूरभाष 547073

(प्रथम सस्करण से)

प्रस्तावना

यह पुस्तक जैन आम्नाय के सम्मान्य एव पूजनीय आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा के राणावास प्रवचनो पर आधारित तथा श्री शातिचद्रजी मेहता द्वारा सम्पादित है।

'आत्मसमीक्षण के नव-सूत्र' शीर्षक इस आकलन मे जैन दर्शन एव अध्यात्म साधना के समग्र समाहित है। जैन परम्परा के प्राचीनतम सूत्र आचाराग के वाक्यो को शीर्ष-स्थान पर रखते हुए कालातीत एव चिरतन आईतीविद्या का यह अमृत-कलश साधको के लिए एक सजीवनी है जिसमे समता-योग एव ध्यान की क्रमागत एव सुगम्य व्याख्या है। आचार्य भगवन की भाषा प्राजल किन्तु सरल है, उदाहरण सुगम्य एव दिशादर्शक है और अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था के साथ सामाजिक एव आर्थिक राजनयिक जीवन के भी दिशा-निर्देश है। इस आकलन की एक अपूर्व एव अनुपम विशेषता यह भी है कि यहा किसी अन्य पुरुष को सबोधित करते हुए आध्यात्मिक सत्यो का मात्र बौद्धिक विवेचन नहीं किया गया है अपितु आचाराग की भाति ही प्रथम-पुरुष मे ही कर अध्याय का प्रारभ और समापन किया गया है और हर अध्याय अपने पूर्ववर्ती चितन से इतना क्रमागत एव गुफित है कि यह ग्रथ आध्यात्मिक चेतना की महायात्रा का एक निर्देशक आकलन बन गया है। पाठक यहॉ प्रथम-पुरुष मे अपने को रख कर सतत आत्मावलोकन करते हुए समत्व योग के एक-एक सोपान को बुद्धि से परिलक्षित नहीं, अपितु भावना से आत्मसात करते हुए आगे बढ सकता है। यह पुस्तक अध्यात्म पथ के पथिको के लिए एक सक्षम मार्गदर्शक एव पथ-बधु बन गयी है।

दृष्टव्य यह भी है कि यहॉ किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह या खडन-मडन नहीं है। जैन दर्शन एव सिद्धान्त का कोई भी सूत्र अविवेचित नहीं रहा है, लेकिन दृष्टि मानव-चेतना की जड़ जगत के साथ मिथ्या तादात्मय से ऊर्ध्वारोहण कर अनत-चेतना स्व-स्वरूप के साथ एकत्व की जय-यात्रा पर रही है जो इस आकलन का उद्देश्य है।

अध्यात्म-साधना के पथ पर चलते हुए भी मनीषी प्रवक्ता की दृष्टि वर्तमान विज्ञान की कषायविजड़ित राजनीतिक सकीर्ण स्वार्थों से सचालित

तथाकथित प्रगति एव मानव सभ्यता पर उसके दूषित प्रभाव को स्पर्श करते हुए सामाजिक विषमताओ, अध-परपराओ, साम्प्रदायिक मताग्रहो, सामाजिक कुरीतियो का समीक्षण और उनके दुष्प्रभावों से मानव समाज को सावधान करती रही है। इस दृष्टि से भी यह आकलन अमूल्य है।

तत्व-दर्शन के जिज्ञासुओ के लिए यहा समस्त गुणस्थानों, सवर-निर्जरा एव तप के समस्त भेद-प्रभेदों एव ध्यान-योग की समस्त आगम-सम्मत विधियों का विवेचन उपलब्ध है। सक्षेप मे यह पुस्तक सप्रदायातीत शुद्ध जैन-दर्शन एव साधना के सूत्रो का सक्षिप्त एव सुगम सार सत्व है।

कलकत्ता — डॉ. भानीराम वर्मा 'अग्निमुख'

दिनांक 26 5 95

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियो मे है जिन्होने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माए अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानो मे वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व मे समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप मे उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सासारिक प्राणियो के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मिया युगो-युगो तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनो हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को ''नानेश वाणी'' पुस्तक शृखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया। इस निर्णय की पूर्ति हेतु विशिष्ट निधि की स्थापना की घोषणा की गई तथा देशभर मे फैले श्रद्धालुओ से मुक्त हस्त अर्थ सहयोग प्रदान करने का आह्वान किया गया। सत्सकल्पो की पूर्ति मे कभी बाधाए नहीं आती। ऐसा ही इस सकल्प के साथ भी हुआ। सभी ओर से प्राप्त प्रभूत अर्थ सह्योग ने सघ को उस स्पृहणीय स्थिति में पहुचा दिया जिसमे सकल्प पूर्ति मात्र औपचारिकता रह जाती है।

इस सदर्भ मे बैगलोरवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी के विशेष सह्योग का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी गुरुभक्ति, धर्मनिष्ठा एव सघ समर्पणा भाव ने उन्हे प्रेरित किया कि वे समर्पित भाव से प्रयत्न करे। उन्होने ऐसा ही किया। उन्हीं के सद्प्रयासों से ''नानेश वाणी शृखला'' का 40

प्रकाशनाधीन पुस्तको के लिए अर्थसहयोग की लगभग स्वीकृति कर्नाटक और तमिलनाडु से ही प्राप्त हो गई। श्री सिपानी जी की ऐसी सघनिष्ठा हेतु तथा उदार दाताओ के प्रशस्त सहयोग हेतु हम आभारी हैं।

अब जबकि अपेक्षित धनराशि एकत्र हो चुकी है। हम आचार्य श्री नानेश के साहित्य को चरणबद्ध रीति से प्रकाशित करने की दिशा मे गतिमान हो गये हैं। हमारी योजना के अनुसार प्रथम चरण मे प्रकाशित एव प्रचारित परन्तु अनुपलब्ध, कृतियो के नवीन सस्करण प्रकाशित-किये जाने है। द्वितीय चरण में अप्रकाशित असपादित प्रवचनो को सकलित कर नयी कृतियो के रूप मे प्रकाशित किया जावेगा।

इस क्रम मे आचार्य नानेश की कृति **आह्वान अपनी चेतना का** की यह नवीन आवृत्ति सुधी पाठकों, साधको, स्वाध्यायियो एव श्रद्धानिष्ठ श्रावक-श्राविकाओ के हाथो मे अर्पित करते हुए हमे अपार हर्ष एव सतोष का अनुभव हो रहा है। हमे विश्वास हैं कि यह आवृत्ति उनकी रुचि, अपेक्षाओ एव आशाओ के अनुरूप बन पड़ी है।

यहा यह उल्लेख भी प्रासगिक है कि जैन श्रमण परम्परा में साधुमार्गी जैन सघ का आत्म साधना, तपोराधना, धर्म प्रभावना एव साध्वाचार की प्रवृत्तियो को प्रेरित करने मे महत्वपूर्ण योग रहा है। क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचदजी म सा ने इसकी प्रतिस्थापना हेतु अह भूमिका का निर्वहन किया था। उनके पश्चात्वर्ती आचार्यों ने इस सघ को अनवरत ऊचाईया की ओर अग्रसर किया। श्री शिवलालजी म सा यदि निर्ग्रन्थ सस्कृति के प्रतीक थे तो श्री उदयसागरजी म सा ज्ञानाराधना के आदर्श। श्री चौथमलजी म सा श्रमणाचार व सघनिष्ठा के उच्च शिखर रूप समादृत रहे तो श्री श्रीलालजी म सा अनन्य योग साधक व बेजोड़ भविष्यदृष्टा बने। उनके उत्तराधिकारी श्रीमद् जवाहराचार्य एक ऐसे क्रान्तदृष्टा थे जिन्होने आत्मधर्म के साथ ग्राम-नगर, राष्ट्र धर्म आदि सयुक्त कर धर्म को नव आयाम प्रदान किये तो कालजयी विचार दर्शन भी प्रस्तुत किया। शात क्रान्ति के अग्रदूत श्रीमद् गणेशाचार्य ने यदि धर्म सघ, आत्मचितन व श्रमण चेतना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया तो आचार्य श्री नानेश ने आत्मलक्षी साधना की युगीन दिशाए उन्मुक्त की।

चिन्तन और साधना के क्षेत्रो मे नवीन कीर्तिमान स्थापित करने वाले ऐसे धर्माचार्य श्री नानेशाचार्य के साहित्य की सतत् सहज उपलब्धता जहा धार्मिक

आध्यात्मिक नव जागरण की दृष्टि से अपरिहार्य है वहीं एक प्रज्ञासम्पन्न साधक, आदर्श चितक एव दार्शनिक, समत्वयोगी, समीक्षण ध्यान प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक एव आध्यात्मिक आराधक के रूप मे उनका प्रदेय वर्तमान युग की अनमोल निधि है। अपने इस प्रदेय और अपनी गहन साधना द्वारा धर्माचार्य के रूप मे उन्होंने वह विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया जो सम्प्रदायातीत होता है। उनका यह रूप उनके उस सम्पूर्ण प्रकाशित एव अप्रकाशित साहित्य मे प्रखरता से उद्घाटित होता है जो गाथाओं, कथाओ, प्रवचनो उपदेशों एव उद्बोधनो के रूप में उपलब्ध है और अपनी प्रकृति के कारण जो चेतना के ऊर्ध्वारोहण, चरित्र के सुसस्कार एव जीवन के परिष्कार मे सहायक भी है।

आचार्य श्री नानेश की साहित्य साधना पर विहगम दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि कालक्रम से परिवर्तित होते "साहित्य" के अर्थों के सदर्भ मे इसमे सभी रूपो का प्रतिनिधित्च है। यह शास्त्र की भाति परम हितकारी है तो काव्य के अर्थ मे सत्य, शिव, सुदर का समन्वित रूप भी है। इसमे सन्निहित सत्य शाश्वत है, यह शिव स्वरूपी अर्थात् सर्व कल्याणकारी है और सत्य व शिव होने से सौन्दर्य-बोध भी करता है। यदि समग्र साहित्य को अग्रेजी के 'लिटरेचर' अर्थ मे ले तो यह जितना लिखित (पुस्तकाकार प्रकाशित) है उतना ही प्रवचनो के रूप मे मौखिक भी है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य व सत्य है कि आचार्य श्री नानेश साहित्यकार होने से पूर्व एक सिद्ध सत थे यद्यपि सर्वप्रथम वे मानव थे। यही कारण है कि मानव को केन्द्रस्थ रखकर उन्होने अपने प्रवचनो में यही सदेश दिया कि मनुष्य आत्मा से परमात्मा (अप्पा सो परमप्पा) की यात्रा हेतु स्वय को कषायो से मुक्त करे और परिधि से केन्द्र मे स्थित होने के लिए बहिर्मुखी चितन को छोड़कर अन्तर्मुखी बने। वस्तुत उनका बहुआयामी चितन उनकी अनोखी उपलब्धि है तथा उनका साहित्य मानव मात्र के हित साधन हेतु सप्रदायातीत जीवन मूल्यों के विकास एव सरक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आचार्य श्री जी का साहित्य विपुल है। समाज के सम्मुख उपलब्ध प्रकाशित कृतियो के अतिरिक्त ऐसा अपरिमित साहित्य भी विद्यमान है जो लिपिबद्ध प्रवचनो, फुटकर लेखो एव भक्तजनो द्वारा सकलित/सग्रहित सामग्री के रूप मे है। सघ ऐसे साहित्य को प्राप्त कर उसे यथासभव प्रकाशित कर जन-जन के हितार्थ प्रस्तुत करने हेतु कृत सकल्प है।

आचार्य श्री नानेश के साहित्य को निश्चित वर्गो में विभाजित कर पाना कठिन है। इसमे समाविष्ट है प्रवचन-सकल्प, आगम-ग्रन्थो/विषयों का विवेचन, कथा साहित्य, काव्य कृतियों, सुभाषित व सूक्तिया। उनका साहित्य उनकी ज्ञान गरिमा का परिचय तो कराता ही है समाज की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को भी रेखाकित किया जा सकता है। वस्तुत उनका साहित्य चाहे वह किसी भी रूप/विधा मे हो, वह उनकी उच्च कोटि की आध्यात्मिक साधना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। एक युग-प्रवर्तक सत, धर्माचार्य, अध्यात्म योगी एव समता दर्शन प्रणेता के जीवन के विविध आयामो तथा साधना के विभिन्न क्षेत्रो मे परिचित कराने मे भी वह सक्षम है। उनके इस साहित्य के विषय हैं- धर्माचरण, चरित्र परिष्करण, सस्कार-निर्माण एव आत्मकल्याण।

उनका साहित्य प्रणयन वर्तमान जीवन की ज्वलत समस्याओं के सदर्भ मे हुआ है। उन्होने समाजवादी और साम्यवादी चितन को आध्यात्मिक धरातल पर आग्रह मुक्त हो व्याख्यायित ही नहीं किया उसे व्यवहार की गरिमा से विभूषित भी किया है। उन्होने जहा जीवन की विषमताओ/विभीषिकाओ, अधर्म के विस्तार, काषयिक प्रवृत्तियो, अभावों, अशाति, तनाव, असतोष आदि का चित्रण किया है, वहीं अपनी साधना के माध्यम से मानवता के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त किया है। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण साहित्य जीवन से जुड़ा तो है ही जीवन उन्नयन का मूलाधार भी बना है। यही उनकी साहित्य-साधना की सार्थक व महत्वपूर्ण उपलब्धि है तथा इसी मे सन्निहित है उसकी कालजयिता और सार्वजनीनता।

ऐसे उपयोगी साहित्य को सर्व सुलभ बनाने का हमारा सकल्प यदि मूर्तरूप प्राप्त कर सका है तो नि सदेह यह उन वर्तमान आचार्य श्री रामेश के आशीर्वाद का ही परिणाम है जिनकी गुरु भक्ति अनुपम व अनूठी है तथा जिन्हे जन कल्याणकारी चितन को जन-जन तक पहुचाने की विशेष चिन्ता है। हमें उनसे प्रेरणा ही नहीं मिली, वह सम्पूर्ण वत्सल मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ है, जो प्रेरणा को उपलब्धि मे परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होता है। उनकी ऐसी कृपा हमारा ऐसा सौभाग्य है जिस पर सम्पूर्ण साधुमार्गी जैन सघ गर्व कर सकता है। सत शिरोमणि, आचार्य देव की ऐसी महती कृपा के लिए हम उनके प्रति विनय और श्रद्धा से नतमस्तक है।

प्रस्तुत कृति *आह्वान अपनी चेतना का* (नानेश वाणी क्र -2) के प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सौजन्य के लिए श्री साधुमार्गी जैन सघ, हावड़ा के प्रति हम धन्यवाद ज्ञापित करते है। सद् साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उनका यह सहयोग निश्चय ही अनुकरणीय एव वदनीय है।

उपर्युक्त कृति मे सन्निहित मूल सदेश व कृति का परिचय अग्र पृष्ठ/पृष्ठो मे प्रस्तुत किया जा रहा है, जो दृष्टव्य है।

हमे पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे समाविष्ट विचार-दर्शन को आत्मसात कर पाठक आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकेगे।

भवदीय

राजमल चोरडिया — अध्यक्ष
धनराज बेताला — महामत्री
शांतिलाल सांड — सयोजक

कमल सिपानी
अभय कुमार चोरडिया
जयचन्दलाल सुखानी
उदय नागोरी

(सदस्य, साहित्य समिति, श्री अ भा सा जैन सघ, बीकानेर)

एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य श्री नानेश सक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नन्हा दीप,
सदाहरता तिमिर जग का,
सहज शान्त अभीत ।

छोटा सा दीपक, गाव की मिट्टी की सोधी गध से सुवासित, सुसस्कारो के नेह से सिचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन मे युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहु ओर परिव्याप्त निबिड अधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति कीं जाज्वल्यमान परम्परा में सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को मगलकारी दीपावली मे परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारो ने कहा भी है-

जह दीवो दीवसय पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वति पर च दिवति॥

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार मे वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात ब्रह्म ही तो थे जिन्हे श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते है- 'वटस्य पत्रस्य पुट'' शयानम् बालमुकुदम् शिरसा नमामि'' और उन्हीं के सरक्षण मे नव सृष्टि का विकास सभव

हुआ था। अज्ञानाधकार के हरण मे महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता क्योकि ''उतमत गुणेहि चेव पविज्ञई''। उत्तमता गुणो से प्राप्त होती है और गुणो की ही पूजा होती है-'गुण पूजास्थान न च लिग न च वय ।' यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवे पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्वपीठिका की दिशा मे उन्हे युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृगार बाई का ममताव्याकुल सशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो-'' ई घणा भोला टाबर है, या पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।''

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा ! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का सकल्प। इस सकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली मे सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी सकल्प की पूर्ति मे ''नाना दीप'' ने दीपित सत-सतियों की एक सुदीर्घ शृखला ही सर्जित कर दी थी। एक कडी दूसरी कड़ी से जुडती गई थी। सम्पूर्ण ससार को अपनी ज्योति-परिधि मे आवेष्ठित कर लेने के लिये और जगती का आगन आचार्य श्री के नेश्राय मे दीक्षित दीपको की लम्बी शृखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असदिग्धप्रमाण था। यह चमत्कार भी था। क्योकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पाच सौ वर्षो मे भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितिया अत्यन्त विषम थी। एक अत्यन्त सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहो से टकराव, विरोधो की उग्रता एव दुर्बल सघीय व्यवस्था अपने आप मे विकट समस्याए थी। परन्तु ''दिवा समा आयरिया पण्णता''- आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्जवलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत भीषण झझावात के उस काल मे जब श्रमण सघो एव श्रावक सघो की भावनाए भीषणरूप से आलोडित थी, इस सघ प्रज्वलित दीपक ने साहस-पूर्वक घोषणा की थी।

''सघर्ष से ही नवनीत निकलता है और सघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। सघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नो पर नहीं चल सकता।''

और प्रारम्भ हुई थी लड़ाई- दिये की और तूफान की, जिसमे दीया विजयी हुआ था। झझावत शात हुआ था सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मद फुहारों से सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग मे तपने की। सवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी सत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के भावो से मुक्त होते है। सोना तप कर कुन्दन बनता है और सघर्षो में स्थिरमति रहकर मनस्वी वदनीय बन जाता है।

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु ख न च सुख।
तप्त तप्त पुनरपि पुन काचन कान्तवर्णम्॥

अशाति, विरोध और सघर्ष से आलोड़ित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियों का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिसा, आतक, विरोध, शोषण पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियो के उपचार मे यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य सदेशो द्वारा इस सत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुदर काव्यात्मक दिग्दर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पक्तियो मे हुई है-

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।
श्रेय मानव का असीमित मानवो से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान।
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा मे यात्राओ, चातुर्मासो और उद्बोधनो के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था- उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणे बरसाता इस सपूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन मे समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चदन और सत, भेद-अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भडार सबके लिये उन्मुक्त रखते है। फिर इस प्रकाशपुज की ज्योति सीमा में कैसे बधती ? प्रसग अनेक हो सकते हैं। परतु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तकारी दृष्टि धर्मपालो की अटूट शृखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो "कम्मणा बम्मणा होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।" भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रव्रज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क सगत कहा बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमे गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामो के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहि जानत, कचन करत खरो- तब सत के ससर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यो नहीं बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने गगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा मे मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल मे उलझी अवधारणाओ को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चितन को सैद्धान्तिक आग्रहो से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वो को पाखड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हे अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओ का ही सहज समाधान। प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप में मान्य एव प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वय किया एव करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान

की पद्धतियो को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुचाने मे आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से सबधित विविध चितन धाराओ का जिस प्रकार समता दर्शन मे समन्वय किया गया, वह स्वय मे उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार सहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को सस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पाच् पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध पतन के मूल कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता मे व्यवधान डालने वाले भी है।

पाच चोर गढ मझा, गढ़ लूटे दिवस अरु सझा।
जो गढपति मुहकम होई, तो लूटि न सके कोई॥

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढपति सिद्ध हुए जो रमैया की दुलहन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढ़पति की महिमा का बखान करते हुए सत कबीर ने पहले ही कह दिया था-

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मै रह्या उमेषै।
मूसा हस्ती सो लडै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा बैठा बाबि मे, लारे सापणि धाई,
उलटि मूसै सापिण गिली यह अचरज भाई।
नाव मे नदिया डूबी जाई॥

आकाश के औधे कुए से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हस ही पीता है।

यह उलटबासी नहीं, सत्य है, तत्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक मे यह चराचर जगत किसी रूप मे अर्थवान बनता है। एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आगन।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया बन॥

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पड़ता है यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य मे निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण

करता है और अपने पीछे छोड़ जाता है, एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की सध्यावदन करते साधको ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य के प्रकोष्ठ में प्रविष्ठ हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुन आकाश मार्ग से लौट गई थी !! यह चमत्कार था और हम जानते है, चमत्कार होते है। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नहीं, सपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड गया जिसमें भव्य आत्माए आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती है।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्ञवलित कर गया है रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ़ कधो पर वहन करने मे पूर्ण सक्षम है दीप की आदित्य बनने की दिशा मे एक और यात्रा प्रारभ हो गई है। साधुमार्ग मे यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी यह तथ्य उस परपरा में आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये है। इस प्रकार अनन्त आलोक का पारावार हिलोरे लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पाच सो वर्षो तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

–डा आदर्श सक्सेना
बी–17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज)

अर्थ सहयोगी परिचय

प्रस्तुत कृति 'आह्वान अपनी चेतना का' का प्रकाशन श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ, हावड़ा के अर्थ सौजन्य से हुआ है। इस नवोदित सघ के उद्भव एव विकास-यात्रा का विवरण अग्रत अकित है–

श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ, हावड़ा का गठन दिनाक 24 11 1999 (तदनुसार माघ सुदी 7, स 2056) को श्रीमान हनुमानमलजी सेठिया की अध्यक्षता एव पूर्वांचल सघ के अध्यक्ष श्रीमान सपतलालजी सिपानी के मुख्य आतिथ्य मे श्रीमान कमलचदजी भूरा, गौहाटी (धर्म प्रचारक) के मगलाचरण के साथ हुआ। सभा मे सर्व सम्मति से चयनित पदाधिकारी थे- सर्व श्री भवरलालजी दुगड़-अध्यक्ष, हनुमानजी सेठिया एव उदयचन्दजी सेठिया-उपाध्यक्षद्वय, मगनमलजी छाजेड़-महामत्री, सुशीलकुमारजी गेलड़ा-मत्री तथा लूणकरणजी भूरा-कोषाध्यक्ष।

समस्त उपस्थित महानुभावो ने स्व आचार्य श्री श्री 1008 श्री नानालालजी म सा एव वर्तमान शासनेश श्री श्री 1008 श्री रामलालजी म सा के प्रति सर्वतोभावेन समर्पणा व्यक्त करते हुए सघ के विकास कार्यों में पूरा पूरा सहयोग देने का सकल्प किया तथा साधना के क्षेत्र में सभी को अधिकाधिक जुड़ने/जोड़ने का लक्ष्य रखा।

तदनन्तर सघ की प्रगति हेतु निम्नानुसार कार्यक्रम निर्धारित किये-

1 प्रत्येक सोमवार प्रात 8 से 9 30 बजे तक सामूहिक प्रार्थना, सामायिक एव स्वाध्याय।

2 वक्तृत्व कला का बालक-बालिकाओं, महिलाओं, युवको आदि मे विकास करना।

3 पर्वाधिराज पर्युषण मे अष्ट दिवसीय कार्यक्रम आयोजित करना तथा समता प्रचार सघ के स्वाध्यायी आमत्रित करना।

4 प्रत्येक रविवार साय 7 से 8 बजे तक घर घर पहुचकर (क्रमानुसार) महामत्र नवकार का जाप करना।

5 आध्यात्मिक सत्सग व सामाजिक कार्यक्रमों का आयोजन।

6 महापुरुषो की जन्म जयतियो व स्मृति दिवसो पर विविध कार्यक्रमो का आयोजन।

7 स्वाध्यायी शिविर एव सस्कार निर्माण शिविरो का आयोजन।

उपर्युक्तानुसार सघ मे उल्लेखनीय कार्य सम्पन्न हुए है और सघ दिन-ब-दिन उन्नयन की दिशा मे अग्रसर है।

वर्तमान कार्यकारिणी मे सयुक्त मत्री पद पर श्री विजयकुमार जी आचलिया का नया चयन हुआ है तथा कोषाध्यक्ष पद पर श्री प्रकाशचदजी भडारी चयनित हुए है। इनके अतिरिक्त समस्त पदाधिकारी पूर्ववत है।

सघ समर्पणा वर्ष के उपलक्ष्य मे श्री साधुमार्गी जैन श्रावक सघ हावड़ा का मुख्य लक्ष्य है शास्त्रज्ञ, प्रशान्तमना, आगम मर्मज्ञ, तपोपूत, परम श्रद्धेय आचार्य श्री श्री 1008 श्री रामलालजी म सा के प्रति एव उन्हीं की नेश्राय में श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ के प्रति आबाल वृद्ध का सर्वतोभावेन समर्पण।

सघ के सदस्यो की निष्ठा, आस्था एव समर्पण भावना श्लाघनीय व अनुकरणीय है।

प्रारम्भिकी

आनन्द का अनुभव सदा काल प्रिय अनुभव है। ऐसे सुखकारी अनुभव को सभी जीवो ने सदा चाहा है, सदा चाहते है और सदा चाहते रहेगे। सभी जीवात्माओ की यह शाश्वत अभिलाषा होती है किन्तु उन्नतगामी आत्माएँ ही सत्य आनन्दानुभूति के पथ पर अग्रगामी बन सकती है।

आनन्द की अनुभूति का विश्लेषण विभिन्न चरणो मे विभिन्न प्रकार से किया जाता है तथा उन्हीं विविध विश्लेषणो के आधार पर सत्यानुभूति की शोध की जा सकती है। असत्य, भ्रम एव द्विधा के विकट वनो को धैर्यपूर्वक पार कर लेने पर ही आनन्द की सत्य अनुभूति साधक के अन्त करण मे अखूट सुख का दिव्य आलोक प्रसारित करती है।

जब जीव ससार के इस रगमच पर जन्म लेता है तो वह कोरा 'निज' नहीं होता, 'अन्य' के साथ जुड़ा होता है। फिर यह ससार तो जड-चेतन का समन्वित क्रीडागण ही है। जड़ दृश्यमान होता है और चेतन अदृश्य। स्वय चेतन के लिये भी अपना 'निज' अदृश्य रहता है जब तक कि वह उसे अनुभवगम्य नहीं बनाता, अभिप्राय यह है कि नवागत जीवात्मा का प्रथम परिचय सर्व ओर व्याप्त एव विस्तृत जड़ लीला से ही होता है। बचपन से यौवन तक और आगे भी भौतिकता के ऐसे उत्तेजक दृश्य जीवात्मा अपनी इन्द्रियो के माध्यम से देखती, सुनती और अनुभव करती है कि ठोस तथ्यो के रूप मे वह उन्हीं को सबके बीच आसानी से जानती है।

यही कारण है कि सामान्य रूप से जीवात्माएँ निज के निजत्व को न जानती हुई अन्य के प्रखर अस्तित्व को पहले जानती है। बालक का लालन-पालन जिन पदार्थों से होता है, वे अधिकाशत भौतिक या कि अन्य होते हैं तथा आन्तरिक मनोभावनाओ का व्यक्तिकरण भी बालक पदार्थ प्राप्ति के रूप मे ही देखता है। अत वह प्रारभ से पदार्थों की महत्ता को ही जानता है अर्थात् अन्य के साथ ही अपना प्रमुख सम्बन्ध मानता है। फिर यौवन काल मे तो खास तौर से भौतिक सुखो का आकर्षण उसे ललचाता है और वह उन्हीं को पाने, बनाये रखने एव भोगने की राग-द्वेषमय क्रियाओ मे बुरी तरह से उलझ जाता है।

कहने का अर्थ यह है कि जीव अपने आनन्द के अनुभव का आरोपण सर्वप्रथम अन्य मे ही करता है—पदार्थों में ही उस आनन्द को खोजता और उसे

पा लेने का भ्रम पालता है। वह महसूस करता है कि जब वह मधुर सगीत सुनता है, सुन्दर दृश्य देखता है, सुगधमय वातावरण मे रमण करता हे, सुस्वादकारी व्यजनो को चखता है, सुखद सस्पर्श से आह्लादित होता है अथवा इन सुखो की कल्पना भी करता है तो उसे आनन्द मिलता है।

तो क्या उसके इस आनन्दानुभव को सत्य कहा जायेगा ? किन्तु, सत्यासत्य का निर्णय वह कई चरणो से गुजरने के बाद ही कर पाता है। उस समय तो वह क्षणिकता को भी समझ नहीं पाता और न ही उस आनन्द की नश्वरता को ही वह हृदय मे उतार पाता है। उसकी मनोदशा तो एक मदमत्त जैसी होती है कि जब वैसा आनन्द मिल रहा है तो उसे मतिभ्रम हो जाता है। वह उसमे झूमने लगता है और जब वही आनन्द टूटता है तो वह क्रुद्ध होकर उसे फिर से पा लेने के लिये दौड लगाने लगता हे। यदि वह दौड़ की थकान मे सत्य को पाने की ओर न मुड़ सके तो उसी दौड़ धूप में उसका अमूल्य जीवन विनष्ट हो जाता है।

भौतिकता वाले भोगो मे फस जाने तथा अन्य पदार्थो मे रमण करने की जीवात्मा की इस अज्ञान दशा को आत्मा का विभाव माना गया है। शाब्दिक अर्थ मे विभाव वह जो स्वभाव से विपरीत हो। इस पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर स्वभाव क्या होता है ? यदि आनन्द का ऐसा अनुभव आत्मा का विभाव है तो आत्मा का स्वभाव क्या होगा एव उस आनन्द का अनुभव कैसा होगा ?

शास्त्रो मे स्वभाव को ही धर्म कहा गया है– वत्थु सहावो धम्मो। जिस वस्तु का जैसा मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म होगा। उस धर्म पर अधर्म तब हावी होता है जब धर्म की मौलिक शक्ति क्षीण हो जाती है। तब स्वभाव पर विभाव हावी हो जाता है। एक लकडी का टुकडा पानी की सतह पर तैरता है–यह उसका मूल स्वभाव है। उस टुकड़े के साथ एक लौह खड बाध दिया जाय तो वह टुकड़ा तैरने की बजाय पानी मे डूब जायगा- उसे उसका विभाव कहना होगा। स्वभाव पर जो विकृतियो के लेप चढते है, उन लेपो का भार स्वभाव को छिपा देता है और वे विकृतियॉ ही विभाव के रूप में सक्रिय दिखाई देती हं। लकड़ी के टुकडे का तैरना स्वभाव, उसका लौह खड के भार से डूब जाना उसका विभाव हुआ तो विभाव से स्वभाव मे जाने की प्रक्रिया भी स्पष्ट हो गई कि उसके भार को हटा लिया जाय।

एक तथ्य और कि स्वभाव मे रमण करने से सात्विक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो परिवर्धित होता हुआ सत्य एव शाश्वत आनन्द की स्थिति तक

पहुँचता है। दूसरी ओर, विभाव मे भोगा जाने वाला आनन्द क्षणिक, नश्वर तथा कष्टान्त वाला होता है। विभाव से मिलने वाले आनन्द के दुष्परिणामो को भोग कर ही सत्य आनन्द के अनुसधान की ओर गति प्रखर बनती है। विभाव से स्वभाव मे लौटने की आकाक्षा भी तभी बलवती होती है।

अब आत्मा के स्वभाव एव विभाव की चर्चा करे। यह चर्चा शब्दो की कम अन्तरानुभव की अधिक होती है-यह मानकर चलना चाहिये। विभाव की गति-स्थिति को तो सामान्यत सभी मानव जानते पहिचानते है। उन्हे समझानी है स्वभाव की अवस्था। विकृत से विकृत एव पतित से पतित मानव के अन्तरग मे कुछ लहरे ऐसी होती है जो जब चलती है तो वैसे मानव को भी भीतर से कुछ शिक्षा मिलती-सी प्रतीत होती है या कि भीतर की आवाज जैसे उसे जगाती है और इस अन्तरगता मे उसे कुछ ऐसा आनन्द मिलता है जो उसे अनूठा लगता है। इन क्षणो को वह बेमानी मे भूल जाय-यह दूसरी बात है किन्तु विवेकशील व्यक्ति उन क्षणों को पकड़ लेता है, उनको बार-बार याद कराके उस आनन्द का बार-बार अनुभव करता है और अन्तत उन क्षणो को अधिकाधिक स्थायित्व देने के प्रयासो मे जुट जाता है।

विभाव से स्वभाव मे लौटने की यह प्रक्रिया भीतर ही चलती है और मानव को अनुभव कराती रहती है कि आनन्द का भ्रम या आभास कहाँ है और सच्चे आनन्द का अनुभव कहाँ ? एक साधक के अन्त करण मे ऐसा अभ्यास निरन्तर चलता है जिसके प्रभाव से विभाव क्षीण होता जाता है एव स्वभाव अधिकाधिक स्पष्ट एव प्रकाशमान।

मूलत यह प्रत्यावर्तन ही आत्मा की विकास यात्रा है जो उसे अन्य से हटाकर अनन्य बनाती है। इतना ही नहीं, अनन्यदर्शी बनाती है जिसके फलस्वरूप वह अनन्यदर्शी आत्मा अनन्य आनन्दमयी बन जाती है। इस अनन्यता मे ही निजत्व का सम्पूर्ण विकास समाहित होता है।

इस विकास यात्रा के गतिमान चरणों पर ध्यान देना आवश्यक है। इसका पहला चरण है कि साधक अपनी आत्मा का स्वय ज्ञाता बने। कोई हल्के विचार से कह सकता है कि अपनी ही आत्मा को जानना कौनसी बड़ी बात है। लेकिन उसे ही ऐसा करने को कहा जायगा तो वह बड़ी दुविधा में फस जायगा। क्योकि स्वय की आत्मा का स्वय ज्ञाता बन जाना एक महान् उपलब्धि है।

आत्मा जब तक अन्य को ही निज मानती रहती है तो वह भ्रम दशा साधारण नही होती। विभाव की विकृतियाँ उसे उत्थानगामी नहीं बनने देती। उत्थान की बात तो दूर, उसे उस पतन को पतन भी मानने से रोके रखती है। तब वह पौद्गलिक सुखो मे ही आनन्दाभास लेती है और उसे ही प्राप्य आनन्द मानती है। यह आत्मा की मूर्छावस्था होती है वैसी ही जैसी कि एक मद्यप की होती है। सुरा पिया हुआ व्यक्ति माँ और पत्नि मे भेद नहीं कर पाता क्योकि वह अपने ज्ञान और विवेक को शून्य बना लेता है। ऐसी मूर्छावस्था से तब तक उद्धार सभव नहीं है जब तक कि आत्मा को अपने ही अस्तित्व का बोध न हो।

आत्मा के अस्तित्व का बोध हो जाने पर ही उसके रूप-स्वरूप को जानने की अभिलाषा जगेगी और उसके मूल स्वभाव को पहिचानने की जिज्ञासा। अत अपनी आत्मा का स्वय ज्ञाता बनना एक अति महत्वपूर्ण अवस्था है। आत्मा को जानने मे उसके अस्तित्व का अनुभव करना, उसके वर्तमान रूप-स्वरूप का ज्ञान करना तथा उसके मूल स्वभाव को पहिचानना यह सब कुछ समाया हुआ है। स्व का ज्ञाता साधक हाथ मे रखी हुई मणि के समान अपनी आत्मा को जानता है।

ज्ञाता हो जाने के पश्चात् दूसरा चरण है कि साधक अपनी आत्मा का दृष्टा बने अपनी आत्मा एव उसकी वृत्तियों व प्रवृत्तियो को प्रतिक्षण देखता रहे। जब साधक अपनी आत्मा के वर्तमान का एव उसकी तात्विकता का ज्ञाता हो जाता है तो वह दृष्टा बनकर उसकी गति-विगति का कठोर नियत्रक भी बन जाता है। प्रतिक्षण अपनी आत्मा याने कि अपनी अन्तरगता को देखते रहने का अर्थ है कि वह अपने जीवन मे पूर्ण रूप से सतर्क बन गया है। वह कभी भी कहीं भी अपनी आत्मा को अन्य मे भटकने नहीं देता—मनसा वाचा कर्मणा सदा आत्मगति को ऊर्ध्वगामी बनाये रखता है। वह साधक सफल अश्वारोही के समान अपनी साधी हुई लगाम से आत्मा को अनन्यदर्शिता एव अनन्य आनन्दानुभूति की दिशा मे आगे से आगे बढाता जाता है।

निजात्मा का स्वय ही ज्ञाता एव दृष्टा होना इस कारण आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, क्योकि एक ज्ञाता और दृष्टा साधक ही अपनी आत्मा को अनन्य बनाने के मार्ग पर गतिशील कर सकता है और आत्मा को अनन्य बनाने का मार्ग है समता का मार्ग।

भारतीय दर्शनो मे जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो सर्व आत्माओं की समता के सिद्धान्त को निरूपित करता है। यह सिद्धान्त मूल आत्मिक स्वरूप

की अवधारणा पर आधारित है। आत्मा का मूल स्वरूप दर्पण के समान एकदम स्वच्छ माना गया है। दर्पण पर जिस प्रकार बिना सार सम्हाल के धूल की परते जमती रहती है और उसकी प्रतिबिम्ब क्षमता घटती रहती है, उसी प्रकार आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप पर भी कर्म बन्धन के आवरण चढ़ते जाते है एव उसकी स्वरूप-तेजस्विता को ढकते जाते है। कर्मावृत्त आत्मा ससारी आत्मा होती है। यही आत्मा जब अपने सयम एव तप के बल पर उन आवरणो को मिटाती जाती है तो एक दिन उसका परम शुद्ध स्वरूप भी प्रकट हो जाता है और वही तब सिद्ध आत्मा बन जाती है।

इस सिद्धान्त की महत्ता इस अवधारणा मे है कि मूलत प्रत्येक आत्मा समान स्वरूपी होती है और इसी कारण समान व्यवहार की अधिकारी भी। ऐसा व्यवहार जो उनके कर्मावरणो को भी क्षीण करता जाय और उनके अभ्युदय का मार्ग भी प्रशस्त बनाता जाय। इस विचार की प्राभाविकता ससार के इसी रगमच पर भलीभाति अभिव्यक्त होनी चाहिये। न सिर्फ मानव जाति, बल्कि सम्पूर्ण प्राणी जगत् इस सिद्धान्त की सीमा मे समावेश पा जाता है। यही विश्व बन्धुत्व अथवा सम्पूर्ण वसुधा के एक परिवार की मान्यता मे आता है।

जब यह मान लिया जाता है कि ससार की सभी आत्माएँ समान है तथा समान लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा मे आगे बढना चाहती है तो प्रत्येक मानव का यह सुनिश्चित ध्येय बन जाता है कि वह अपने इस पूरे परिवार की हित साधना मे विवेकशील बने। स्वार्थ के सकुचित दायरे को त्याग कर तब वह समग्र प्राणियो के विस्तृत हित के लिए अपनी मानसिकता का निर्माण करता है, वैसी ही वाणी उच्चरित करता है तथा तदनुकूल आचरण को पूर्णत्व प्रदान करने का प्रयास करता है। मानव हृदय का ऐसा ही हितैषी विस्तार समता का मगमलय मार्ग कहा जाता है।

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दु ख कोई नहीं चाहता, अत सबको सुख पहुँचाओ, किसी को भी दु ख न दो- यह समता का, अहिसा का प्राथमिक पग होता है। किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना- यह अहिसा का नकारात्मक रूप है तो उसका सकारात्मक रूप होगा कि प्रत्येक प्राणी को अपने सामर्थ्य से भी आगे बढ़ कर सुख पहुँचाने की हितचिन्ता एव कार्य विधि मे लगे रहो। अहिसा के इस रूप से अनुपालन में मनुष्य स्वार्थ की विकृति को त्यागता जायेगा और व्यापक हित से जुड़ता चला जायगा।

एक साधक जितना अधिक स्वार्थ से दूर होगा तथा परमार्थ में सलग्न बनेगा, उतना ही अधिक वह समता की दिशा मे अग्रगामी बनेगा। जो सबको जान लेता है, वही एक को जानता है तथा जो एक को जान लेता है, वही सबको जान लेता है– इस सिद्धान्त के अनुसार समता की साधना मे निरत साधक अनन्य बनता जाता है—उसके लिये एक भी प्राणी– एक भी आत्मा अन्य नहीं रहती। तभी वह अनन्यदर्शिता की ओर कदम बढाता है। अवधारणा मे समाने और आचरण मे उतरने पर ही दर्शिता का स्तर परिपुष्ट बन सकता है।

समता अवधारणा मे समा जाय–इसके लिए स्वय आत्मा ही ज्ञाता बने। स्वस्वरूप से पूर्णतया परिचय पाने के पश्चात् ही ज्ञाता की अवस्था समुत्पन्न होती है। वह ज्ञाता अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को भी पहिचान लेता है तो उसके वर्तमान कर्मावृत्त स्वरूप को भी जान लेता है। इस दृष्टि से वह सर्व आत्माओ के मूल स्वरूप को उसी भाति मानते हुए उनकी कर्मावृत्तता की भी पहिचान प्रारभ करता है तथा प्रयास करता है कि वे आत्माएँ भी अपने वर्तमान स्वरूप को जानकर कर्मों को अनावृत्त करने की साधना की ओर गति करे। ऐसा आत्मीय सहयोग उसे सर्वात्माओ के साथ अनुराग भाव से जोडता है कि वे सब उसके साथ समान रूप से सम्बद्ध है।

अपनी परिपक्वता की ओर बढती हुई समता की यह अवधारणा तब आचरण मे उतरती और व्यवहृत होती है जब साधक अपनी आत्मा का स्वय दृष्टा भी बन जाता है। वह दृष्टा तब अपने कर्त्ता होने पर नियत्रक लगाम लगा लेता है। वह करता है किन्तु साथ ही साथ देखता भी रहता है कि वह क्या कर रहा है, कैसा कर रहा है, जो कर रहा है वह कितना समतामय है तथा कितना समताहीन ? यह दृष्टि प्रतिक्षण सतर्क रहती है। इस कारण समता साधक की आत्मा जो कुछ भी करती है, वह अधिकाधिक समतामय होता है तथा समतामय होता जाता है।

यह दृष्टा भाव स्वय की आत्मा को सतत जागृत रखता है कि वह किसी भी स्तर पर सर्वात्म-हितैषिता से विलग न हो। सारा ससार उसकी स्नेहमयी समता की छाया मे आ जाता है।

ज्ञाता और दृष्टा बनकर जब साधक अपनी आत्मा की समता को साध लेता है तब वह तीसरे चरण पर प्रतिष्ठित बनता है। वह होता है ध्याता का भाव। तब वह निरन्तर इस ध्यान मे रहता है कि उसकी प्रेरणा से अन्य सभी आत्माएँ भी समता के मार्ग पर अविचल बने और आगे बढे। तब वह अनन्यदर्शी बन जाता

है और समता की सर्व स्नेहमयी रस धारा मे स्वय भी अवगाहन करता है तथा अन्य आत्माओ को भी अवगाहन कराता है। आत्मा की अनन्यदर्शिता ही अनन्त आनन्द की अनन्त अनुभूति प्रदान करती है। जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्य आनन्दी है और जो अनन्य आनन्दी है वह अनन्यदर्शी है– यह एक शाश्वत सिद्धान्त एव शाश्वत स्थिति है।

महावीर प्रभु ने अपने इस शाश्वत सिद्धात के माध्यम से उन्नतिकामी आत्माओ को प्रेरणा दी है कि वे निरन्तर आत्म-समीक्षण करे और यह जाने कि वे अपने ज्ञाता, दृष्टा एव ध्याता भावो को विकसित बनाकर समता मार्ग पर निश्चल गति से अग्रगामी बन रही है अथवा मथर गति से लक्ष्य को पाने का प्रयास कर रही है। यदि गति मथर है तो अपनी समता साधना की उत्कृष्टता से उसे उग्र बनाना होगा तथा समता के उच्च शिखर पर आरूढ़ बनकर अनन्यदर्शी एव अनन्य आनन्दी बनना होगा, क्योकि वहा पहुचकर ही सदा के लिए शाश्वत आनन्द का स्थायी रसास्वादन लिया जा सकता है। वही इस मानव जीवन का एव कर्म मुक्ति का चरम ध्येय है।

किन्तु समता के सर्वोच्च शिखर पर आत्मा को पहुँचायेगा कौन ? कोई अन्य नहीं पहुँचायेगा, स्वय इसी आत्मा को अपने आत्म समीक्षण एव समतामय आचरण के आधार पर वहा पहुँचाना होगा। आत्मा तो स्वय कर्त्ता है, वह किसी की आश्रित नहीं। इसकी जो विवशता जाहिर होतीहै वह इसकी कर्तावृत्तता के कारण है। किन्तु जब और जितनी यह आत्मा कर्मो से अनावृत्त होती जाती है, तब और उतनी उसकी तेजस्विता, कर्मठता एव शक्ति सम्पन्नता भी अभिव्यक्त होती जाती है।

आत्मा के इसी मूल एव पूर्ण स्वरूप को प्रकट करने का सशक्त साधन है आत्म समीक्षण। समीक्षण का अर्थ है समतामयी दृष्टि से देखना। यह इस रूप मे देखने का काम करती है साधक की आत्मा, और वह देखती है उस दृष्टि से ससार की सभी आत्माओ को। इस दर्शिता से विकसित होती है उसकी अभेद दृष्टि कि उसकी अपनी आत्मा और ससार की अन्य सभी आत्माओ मे एक प्रकार से भेद नहीं है, एक प्रकार की समानता है। आत्म समीक्षण इस प्रकार एक ओर समता भावना को परिपुष्ट बनाता है तो दूसरी ओर आत्मा के ज्ञाता, दृष्टा एव ध्याता भावो को क्रमश विकास की ओर ले जाता है।

आत्म समीक्षण ही आत्मा के समतामय विकास का मूल मत्र है। आत्म-समीक्षण के ध्यान एव अनुष्ठान के बल पर आत्मा स्वय ही स्वय को ऊर्ध्वगामी बनाती है। यह समीक्षण केवल दृष्टा भाव का ही परिचायक नहीं होता, अपितु दृष्टा एव ध्याता भाव के सामजस्य से जो एक समता दृष्टि विकसित होती है– यह समीक्षण उसी अवस्था का प्रतीक माना जाना चाहिये।

आत्म समीक्षण चिन्तन एव आचरण की वह प्रक्रिया है जो आत्मा मे उन्नति की आकाक्षा पैदा करती है, उसे विकास के पहले सोपान पर स्थापित करके विभाव के भटकाव को हटाकर स्वभाव मे प्रत्यावर्तित होने की प्रेरणा देती है और तब उसे ज्ञाता, दृष्टा एव ध्याता भावो का परिपक्व अभ्यास कराती है ताकि वह आत्मा समता के धरातल से उसके सर्वोच्च शिखर तक प्रगति करती ही रहे। अन्य को अपने समता क्षेत्र मे समाहित करके वह अनन्य बने और अनन्य आनन्द की अनुभूति लेते हुए अन्य आत्माओ को भी उस आनन्द से आप्लावित बनावे।

वर्तमान परिस्थितियो में, जबकि लोगो का अधिक रूझान भौतिक एव पौद्गलिक सुखो की तरफ बढ रहा है, इस आत्म समीक्षण का महत्त्व अधिक प्रासगिक एव उपयोगी हो जाता है। अपनी वैभाविक परिणति के कारण अधिकाश आत्माएँ भौतिक सुखसाधनो से परिपूर्ण बाह्य परिवेश मे ही अपने आपको अनुरजित मानने लगी है या कि उसी विपरीत दिशा मे गति कर रही हैं। एक प्रकार से आज का जन-मानस ऐसी विभावपूर्ण बाहर की जिन्दगी जीने का ही अभ्यस्त हो रहा है। यह अभ्यास भी ऐसी जड स्थिति तक पहुँचता जा रहा है, जहाँ इन आत्माओ को अपने ही मूल-शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की अन्तर्यात्रा प्रतिकूल प्रतीत होने लगी है। यदि इन्हे निज-विकास की पिपासा न रही, अपने अनन्य स्वरूप को विस्तृत बनाने की आकाक्षा न बनी और आचरण को श्रेष्ठतर एव श्रेष्ठतम बनाने की अभिरुचि क्षीण होती रही तो वह आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान क्षति होगी। अत आवश्यक है कि आत्म समीक्षण का अभ्यास अपनाया जाय चिन्तन और कर्म मे तथा समीक्षण से समता की साधना की जाय।

आत्म समीक्षण के सतत अभ्यास से ही आत्मा को स्व-बोध होगा और वह तत्त्वों की हेयता, उपादेयता एव ज्ञेयता को भलीभाति जान सकेगी तथा तदनुसार तत्त्वो से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन और दर्शन से चारित्र को समुन्नत बना सकेगी। समता से विभूषित यही रत्न त्रय का मार्ग है जो आत्मा के समस्त कर्मावरणो को हटा कर उसे मुक्ति के अनन्त आनन्द में सदा काल के लिए प्रतिष्ठित कर देता है।

प्रस्तुत ग्रथ 'आत्म समीक्षण' मे इसी दृष्टि से उत्तम पुरुष मे लेखन किया गया है कि प्रत्येक आत्मा का, जो भी इसे पढे–यह भाव चिन्तन बन सके। इसका पठन करते हुए वह तल्लीन बन सके कि यह सब कुछ उसके अपने चिन्तन के लिए है और उसके अपने समतामय उत्थान के लिए है। उत्तम पुरुष का प्रयोग एकात्मता प्राप्त करने के लिए ही किया गया है– यह उत्तम पुरुष व्याख्याता या सम्पादक का नहीं है, मुख्य एव सामान्य रूप से प्रत्येक पाठक का है कि वह इस चिन्तन के साथ अपने आत्म भावो को घनिष्ठ रूप से जोड ले। उत्तम पुरुष मे आध्यात्मिक विवेचन का अपना विशेष महत्त्व होता है, क्योकि आध्यात्मिक क्षेत्र मे भावना का महात्म्य होता है। इसी कारण अपनी ही आत्मा को सीधे सम्बोधित करने वाले लेखन को जब भावपूर्वक पढा जाता है तो उसमे एक निजत्व का भाव समाविष्ट हो जाता है। ऐसा लगता है कि यह सब कुछ सम्बोधन कोई अन्य नहीं कर रहा, बल्कि वह स्वय ही अपनी आत्मा को कर रहा है तथा आत्मा की गति-विगति का जो सम्पूर्ण विवेचन है, वह जैसे उसकी अपनी आत्मा से ही सबधित है। इसी आत्म जागृति के भाव से इस ग्रथ का प्रवचन-सम्पादन हुआ है और पाठको को भी उसी भाव से इस ग्रथ का पठन-पाठन एव अध्ययन करना चाहिये– ऐसी अपेक्षा की जाती है।

'आत्म समीक्षण' मे जिन नौ सूत्रो का प्रतिपादन किया गया है, वे आत्म-सम्बोधक एव प्रेरक सूत्र हैं। ये बताते है कि आत्मा के मूल एव शुद्ध स्वरूप से सम्बन्धित तत्त्व कौनसे है तथा उन्हे आचरण के माध्यम से पाने के लिये किस प्रकार का नित्य प्रति का चिन्तन बनाना चाहिये, कौनसे आत्म विकास के सकल्प धारण करने चाहिये तथा आत्मा के पराक्रम का किस रूप मे विस्फोट किया जाना चाहिये कि वह अनन्यदर्शिता एव अनन्यानन्द अनुभूति के लक्ष्यो को प्राप्त कर सके एव समता के सम्पूर्ण आदर्श को साकार बना सके।

सभी प्रकार के वचन एव व्यवहार विचार के स्रोत से प्रस्फुटित होते है, अत यदि विचारो में सर्वप्रथम समता का समावेश किया जाय तो वह समता वचन एव व्यवहार के प्रवाहो से सुप्रकट हो सकेगी। विचारो के स्वस्थ निर्माण का एक मात्र साधन है–चिन्तन, सतत चिन्तन, निरन्तर चिन्तन और उसी चिन्तन को समता की रस धारा मे डुबो कर प्रवहमान बनायेगा आत्म समीक्षण अर्थात् आत्मा को जानो, देखो, ध्याओ और अनन्त आनन्द मे निमज्जित हो जाओ।

अनुक्रम

अध्याय एक

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

आत्म-समीक्षण

'जे अण्णणदसी, से अण्णणारामे,
जे अण्णणारामे, से अण्णणदसी

जो मनुष्य समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है, वह अनुपम प्रसन्नता मे रमण करता है।

और जो अनुपम प्रसन्नता मे रमण करता हे, वह समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है।

आत्म-समीक्षण

श्री आचाराग सूत्र मे कहा गया है कि-

'जे अण्णणदसी, से अण्णणारामे,
जे अण्णणारामे, से अण्णणदसी'

जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्यारामी है और जो अनन्यारामी है वह अनन्यदर्शी है।

अन्तर्यात्रा का आनन्द

अनादिकालीन ससार परिभ्रमण के कारण आत्मा अपने स्वभाव को छोडकर अधिकाशत अपने विभाव मे स्थित हो रही है। फिर भी यह हर्ष का विषय है कि अब सामान्य जीवन एक नये वैचारिक मोड पर आकर खडा हो गया हे। वर्तमान विषय एव विपरीत परिस्थितियो ने बुद्धिवादियो एव विचारको के हृदयों को आन्दोलित कर दिया है ओर वे इन ज्वलन्त परिस्थितियो के सदर्भ मे सोचने लगे हैं कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे मानसिक तनावो से मुक्त होकर स्थायी सुखानुभव किया जा सके ? यही अन्तरदर्शन या अन्तर्यात्रा की ओर गति करने का आशाजनक सकेत है।

यही नही, स्वय वैज्ञानिक भी विज्ञान के तथाकथित विकास के प्रति सशक और चिन्तामग्न हो गये हैं कि क्या विज्ञान का यह अतिशय विकास स्वय मानव जीवन का ही घातक तो नहीं हो गया है ? छोटी-सी मशीन से लेकर कम्प्युटरी रोबोर्ट तक जो यह यात्रिक विकास हुआ है, उससे एक ओर तो मनुष्य की मानसिक यत्रणाएँ बढ गई हें तो दूसरी ओर वायु प्रदूषण आदि दोषो से भाति-भाति के शारीरिक रोग फैल गये हैं।

यह स्थिति चौंकाने वाली बन गई हे। सामान्य जन तक भी सोचने लगे हैं कि आज जिसे विकास कहा जा रहा है, क्या वह विकास भी हे ? कहीं यह तो नहीं है कि यह विकास ही विनाश का रूप ले रहा है ? हम पूर्व वाले पश्चिम की दृश्यमान चमचमाती सभ्यता से आकर्षित हुए थे और उस दिशा मे दौडने लगे थे किन्तु अव वह मोड आ गया है जहाँ हम अपनी विपथगामिता को महसूस करने लगे हैं। इस कारण ही अब यह समझ फैलने लगी है कि विकास की जो दिशा हमने पकडी थी, वह गलत थी। हम अपना सुख अव तक वाहर ही बाहर खोजते रहे हैं और यही हमारी भूल थी। जो

सुख वास्तव मे अपने ही भीतर मे बसा हुआ है ओर जिसे हम अन्तर्यात्रा को सफल बनाकर प्राप्त कर सकते हैं, वह भला बाहर कहॉ ओर केसे मिलता ?

वैचारिक दृष्टि से सामान्यजन तक में यह जो नया मोड आया है, इसे ही स्वस्थ रूप देकर हम आध्यात्मिक दिशा की ओर ले जा सकते हें। आज करीब–करीब सभी वर्ग–पूर्व के ही नही बल्कि पश्चिम के भी सभी वर्ग वैज्ञानिक विकास के इस भयावह रूप से सत्रस्त हो रहे हें ओर आकुल–व्याकुल होकर सुख के नये क्षेत्रो तथा नये स्रोतो की शोध कर रहे हैं। यह शोध की प्रवृत्ति ही हमे अन्तर्यात्रा की दिशा मे आगे बढा सकेगी।

सुख के शोध की यह अन्तर्यात्रा हमे आरम्भ करनी होगी अपने ही मन से, क्योकि यह मन बाह्य एव आभ्यन्तर जगत् के मध्य की कडी हे। आज यह मन बाहर के विषयो मे ही भटक रहा हे–इसको साधना पडेगा और उसे एकाग्र बनाकर भीतर गहराई मे उतारना होगा। मन की ऐसी साधना ही अन्तर्यात्रा की साधना बन सकेगी। इसमें चित्तवृत्तियो पर नियत्रण क्री क्षमता बढानी होगी तो उनके सशोधन के विविध प्रयोग भी कार्यान्वित करने होगे। चित्तवृत्तियॉ अशुभ योगो से शुभ योगो मे प्रवृत्ति करे–यह कोई सरल कार्य नही है। फिर यह आत्मा भी तो अनन्त काल से वेभाविक वातावरण मे चल रही है जिसके कारण चित्तवृत्तियो मे यह परिवर्तन लाना सहज रूप से सभव नही है। विपथ पर दौडते हुए चित्त को नियत्रण मे लेना एक भगीरथ कार्य है। कई साधको ने कई प्रयोग इस हेतु किये हैं किन्तु उनके कई प्रयोग इस दिशा मे विफल भी रहे हैं। कारण, जब तक आत्मा के मूल स्वभाव का सम्यक् ज्ञान नहीं हो तथा विपथ से मन को नियन्त्रित करने की सम्यक् विधि अपनाई नहीं जाय, तब तक कोई भी प्रयोग सफल नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे वीतराग देवो ने सयमीय साधना की प्रकीर्णता के बाद अन्तरज्ञान को पाकर जो मनस्साधना एव ध्यान का प्रयोग बताया है, उसी को केन्द्रस्थ बना कर साधना रूप अन्तर्यात्रा का श्रीगणेश किया जा सकता हे।

आज प्राय सम्पूर्ण जीवन बाह्य यात्रा मे ही व्यस्त बना हुआ हे। चोबीसो घटे मनुष्य बहिर्दर्शन की दिशा मे ही दौड रहा हे। बाहर की प्रतिस्पर्धात्मक दौड से उसे तनिक भी अवकाश नही है कि वह अन्तर्यात्रा के विभिन्न पहलुओ का ज्ञान भी करे। अत अन्तर्यात्रा विषयक चिन्तन का अभाव हे। किन्तु वर्तमान युग की विषमताओ से वह अवश्य घबरा उठा है। इस घबराहट ने उसके मन मे यह विवशता जरूर पेदा कर दी है कि भीतर मे सुख को खोजे। इस कारण वह आत्म चिन्तन की तरफ अव्यक्त रूप से

मुडा हे--यह कहा जा सकता हे। उसकी इस मनोदशा मे यदि आत्म समीक्षण की भावना जगाई जाय और मन को सन्नद्ध बनाया जाय तो वह अपनी अन्तर्यात्रा के विषय मे चिन्तनशील बन सकेगा। चिन्तनशीलता की भूमिका पर यदि मनुष्य के मन को आरूढ कर दिया जाय तो निश्चय ही वह आत्म–साध ाना के प्रति आकृष्ट हो जायेगा।

एक बार जब मनुष्य के मन की, साधक के रूप मे रचना हो जायगी, तब उसकी अन्तर्यात्रा की पिपासा अधिकाधिक तीव्र बनती जायेगी। मन की साधना मे उसकी अभिरुचि भी बढेगी एव अनुभूति भी परिपुष्ट होगी। इसका वास्तविक कारण यह होगा कि उसे भीतर आनन्द का ऐसा स्रोत फूट निकलेगा जो उसे अनुपम लगेगा। इस आनन्द का रसास्वादन उसके अन्त करण मे समुचित मनोभूमि का निर्माण करेगा जिसमे फिर अपनी चित्तवृत्तियों पर नियत्रण कर लेना कठिन नहीं रह जायेगा। तब साधना में भी एक नई दृढता की ज्योति जाग जायेगी।

समीक्षण ध्यान साधना

मन की साधना के सम्बन्ध मे अगणित प्रयोग प्रचलित हें जैसे हठयोग, भक्तियोग, लययोग, कर्मयोग, सहज योग आदि। इनमे से सहज योग की साधना अवश्य अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है जिसके माध्यम से तनाव मुक्ति एव शान्ति से साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्तु इतना अवश्य है कि किसी भी आत्मदर्शन की साधना की प्रारभिक भूमिका मन की साधना ही होगी। मन की साधना मे मुख्य रूप से चित्तवृत्तियो के नियत्रण एव सशोधन पर बल दिया गया हे। यद्यपि यह कार्य आसान नहीं है और अधिसख्य साधको के प्रयास विफल हो चुके हैं, फिर भी जो स्वानुभूति से प्रबोध लेते चलते हें तथा स्थायी सुख का मार्ग खोजते हैं एक दिन सफलता उनके चरण अवश्य चूमती है।

स्वानुभूति की परिपुष्टता की दृष्टि से उपरोक्त प्रयोगो की श्रृखला में जो समीक्षण ध्यान पद्धति का सृजन किया हे, वह यदि निष्ठा के साथ साधको द्वारा अपनाई जाय तो विश्वास हे कि स्वानुभूति की सक्षमता अभिवृद्ध की जा सकती है। मेरा यह विश्वास इस समीक्षण ध्यान पद्धति के सफल प्रयोगो पर आधारित है। कई साधक इस पद्धति को अपना रहे हैं और उन्हे इसके सुपरिणाम भी प्राप्त हो रहे हैं।

समीक्षण ध्यान पद्धति है क्या ? अपने समस्त जीवाजीव पदार्थो को सम्यक् प्रकार से देखना। क्या यह देखना इन चर्म चक्षुओ से समव होगा ?

कतई नहीं। यह देखना सभव हो सकेगा मात्र ज्ञान चक्षुओ के माध्यम से ओर इस कारण पहले अपने ज्ञान चक्षुओ को उघाडना होगा। यह पहले अन्तर्चक्षुओ को खोलेगी। समीक्षण ध्यान साधना से पहले भूमिका की शुद्धि आवश्यक बताई गई है। इस ध्यान की भूमिका है मानस पटल और ध्यान की सफलता के लिए पहले इसी पटल को विशुद्ध बनाना होगा।

ध्यान साधना का अर्थ होगा कि मनुष्य बाह्य जगत् से अपने आपको सकुचित बनावे तथा अपने अन्त करण मे प्रवेश करे। इसका उद्देश्य होगा विश्रृखलित बनी चित्तवृत्तियो का विशोधनपूर्वक नियत्रण करना। अनन्तकाल से बहिर्मुखी बनी हुई इन वृत्तियो को सुनियोजित करने के लिए विशेष प्रकार की भूमिका की आवश्यकता होगी। किसान बीज वपन के पहले जैसे अपने क्षेत्र की शुद्धि करता है, वैसी ही कोशिश एक साधक को भी विकेन्द्रित वृत्तियो के नियत्रण से पहले स्थान, वातावरण की शुद्धि तथा सकल्पशक्ति की दृढता के रूप मे करनी होती है।

सर्वप्रथम मन की साधना के प्रति तीव्रतम सकल्प की आवश्यकता होगी। यह एक मनौवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने ही सकल्प, अपने ही विकास या पतन की दिशा का निर्धारण करते हैं। किसी भी दिशा मे अग्रगामी बनने के लिए सकल्पो की तीव्रता अपेक्षित होती है। सकल्प जितना सुदृढ होता है, तदनुसार उसका आचरण भी अधिक सक्रिय होता हे। इसलिए साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करने से पहले सत्सकल्प की सुदृढता वाछनीय और अनिवार्य है। सत्सकल्प की परिपूर्णता के साथ साधना निश्चित रूप से अधिक गतिशील होगी।

दृढ सकल्प के बाद स्थान तथा वातावरण का भी एक ध्यान–साधक के चित्त पर प्रभाव पडता है। ध्यान साधना के लिये उपयोगी स्थान वही माना जायेगा, जो एकान्त, शान्त, नीरव तथा इन्द्रियाकर्षण के पदार्थो से रहित हो। स्थान यदि उपयोगी नही हो तो साधना मे विघ्न पडते रहते हैं जिनके कारण परिणाम प्राप्ति की अवधि लम्बी हो जाती है। इसलिये द्रव्य और भावरूप उभयमुखी शुद्धि वाले स्थान का चयन किया जाना चाहिये। इसी प्रकार आस–पास का वातावरण भी साधक के ध्यान–सम्बल को डिगाने वाला नहीं, बढाने वाला होना चाहिये। अन्तर्प्रवेश के लिए सहजता अनिवार्य होती है ओर सहज सरल परिधान, स्थान तथा वातावरण की उपस्थिति मे सहजता का सम्यक् विकास सरल बन जाता है।

मनौवेज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार समय के साथ मे भी मन का तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अत समीक्षण ध्यान की साधना मे समय की नियमितता भी आवश्यक होगी क्योकि नियमबद्ध समय पर स्वत ही साधना की स्मृति हो आयेगी तथा उसमे प्रवृत्त हो जाने की लगन लग जायेगी। समय की नियमितता सध जाने पर साधक के मन की क्रियाशीलता स्वचालित जैसी हो जायेगी। ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय ब्रह्म मुहूर्त याने कि रात्रि का अन्तिम प्रहर ओर सूर्योदय के साथ प्रथम प्रहर का समय माना गया है।

तब यह समीक्षण ध्यान अपने विधि क्रम से साधा जाना चाहिये। ध्यानारम से 'आधा घटा पूर्व साधक को निद्रा त्याग देनी चाहिये ताकि दैहिक चिन्ताओ से निवृत्त होकर वह यथासमय साधना मे प्रवृत्त हो सके। तब साधक सामान्य आसन पर माला, मुखवस्त्रिका आदि साधन सामग्री लेकर बैठे और यथा सुविधा सामायिक या सवर का प्रत्याख्यान ले। वन्दन–नमन द्वारा साधक पहले अपने प्रमाद को भी मिटावे तो अपनी वृत्तियो मे मान को हटाकर नम्रता का सचार भी कर दे। विधिपूर्वक तीन बार आवर्तन सहित वन्दन करने से वक्षस्थल की मास पेशियो मे नये रक्त का सचार होगा इससे प्राण वायु की ग्रहण क्षमता बढ जायेगी। फिर पद्मासन से बेठकर साधक ध्यान मे बैठ जावे–किसी प्रकार का तनाव अपने भीतर न उठने दे। सहज भाव से मेरूदड सीधा और सरल रहे। ध्यान की इस मुद्रा मे निरहकारी वृत्ति की स्पष्ट झलक होनी चाहिये।

इस विध ध्यान मे स्थित हो जाने के बाद यो समझिये कि अपनी अन्तर्यात्रा का यह आरम्भ है। इस यात्रा का आरभ ही आन्तरिक चिन्तनशीलता को उभारता है कि सारा जीवन और सारा समय हमने सासारिक विषयो के पीछे लगा रखा है तो क्या मात्र इस मामूली से समय की ध्यानावस्थितता से काम चल जायेगा ? तब भीतर ही भीतर एक असन्तोष उमडने घुमडने लगता है और ध्यान के लिए अधिक उत्साह व अधिक समय की अभिलाषा जागती है– अन्तर्दर्शन की पिपासा बलवती होती है। इस चिन्तन के साथ साधना के लिए समुचित एव सहयोगी मनोभूमि का निर्माण होता है जिसके कारण चित्तवृत्तियो को सम्यक् दिशा मे मोडना अधिक कठिन नही रहता।

सकल्प की दृढता, परिवेश की शुद्धता, वातावरण व स्थान की पवित्रता तथा विनय–विवेकपूर्वक त्याग भावना की ओजस्विता के द्वारा साधना को श्रेष्ठ सम्पुष्टि प्राप्त हो जाती है। तब साधक को मन की गतिविधि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये तथा उसे समझकर आवश्यक निर्देश

सकल्पित किये जाने चाहिये। यह प्रयास होना चाहिये कि मन कम से कम साधना की निर्धारित कालावधि मे तो दिये गये निर्देशो का पालन करे ही। उसकी सारी बहिर्गमिता की दौड तब तक के समय के लिए तो शान्त कर दी जानी चाहिये। साधक के सकेतो के विपरीत उसका मन एक क्षण के लिये भी नहीं चले--इसका निरन्तर अभ्यास किया जाना चाहिये। जितने दृढ सकल्प के साथ साधक अपने मन को निर्देश देगा, वस्तुत मन भी उतनी ही सक्रियतापूर्वक उन निर्देशो का अनुसरण करने लगेगा। निर्देशो का सकल्प के साथ सयुक्त होना आवश्यक है। साधक जब अपने ऊर्जायुक्त सकल्प का सहयोग लेगा तो मन की समस्त वृत्तियॉ अपने केन्द्र का अतिक्रमण करने मे समर्थ नहीं रह सकेगी। किसी प्रकार की आधी उन वृत्तियो को अपने साथ बहा नही सकेगी। लेकिन यह सब सभव हो सकेगा तीव्रतम सकल्प के साथ निश्चित अवधि तक इन्द्रियो एव मन पर सम्यक नियत्रण रखने के कठिन प्रयास के माध्यम से ही। परमोच्च भावना और परमात्मा की साक्षी से लिया गया ऐसा सकल्प, उस अवधि मे इन्द्रियो को उनके विषयो के आकर्षण विकर्षण मे लिपटने नही देगा। वे पापजनक असत्य वृत्तियो मे भी नहीं जा सकेगी तो वर्ण, रस, गध, स्पर्श आदि के प्रलोभन में भी नहीं गिरेगी। ऐसे सकल्प से इन्द्रियो को प्रशस्त सबल मिल जायेगा जिसका आश्रय लेकर वे समस्त प्राणियो की रक्षा मे सावधान बन जायेगी और विश्वमैत्री की उच्च भावना के अनुसार कार्य करेगी।

समीक्षण ध्यान मे केन्द्रस्थ होने के लिये मन के स्वरूप एव उसकी गतीविधि को बारीकी से समझना जरूरी है। वस्तुत मन एक बालक के समान स्वभाव वाला होता है नादान ओर चचल। चचलता के कारण यह सभव होता हे कि किसी भी चीज का उपयोग विकास के लिये नहीं, विनाश के लिए कर दिया जाता है। एक बालक के हाथ मे कुल्हाडी आ जाय तो वह उस का उपयोग सबसे पहले अपने घर के दरवाजो पर ही करना शुरू कर देगा। उस समय जितने स्नेह, जितने विवेक और जितनी कुशलता से बालक को समझाया जा सकता है, मन को सही राह पर लगाने के लिए उससे भी अधिक स्नेह, विवेक और कुशलता की आवश्यकता होगी। इसका कारण यह हे कि मन हर समय क्रियाशील रहता है और उसकी क्रियाशीलता जितनी अनुपयोगी होती है, वह शेतान का घर बनता जाता है। इसलिये मन की विपथगामिता को रोकने तथा उसे सम्यक् दिशा मे प्रवर्तित करने के लिये भी अद्भुत कौशल चाहिये। यही कौशल समीक्षण ध्यानाभ्यास से प्राप्त होता है।

मन को काम चाहिये–क्रिया चाहिये, आप उसे सही काम और क्रिया दे देते हें तो वह और दोडेगा एव आपके उद्देश्य को सफल बनाने मे जुट पडेगा। यदि आप उसे व्यवस्थित दिशा नही दे पाते हैं तो वह बिगडेल बच्चे की तरह इधर–उधर भटकेगा ही। तब वह विध्वस के सूत्रो को ही पकडता रहेगा। अत मन के मननपूर्ण स्वभाव को एक साधक समझे और उसकी गतिशीलता को शुभता की ओर मोडे। मन तो हर समय गति करेगा ही इसलिए उसे स्थिर नहीं करना है बल्कि उसकी गति को शुभ मोड देना है। मनस्साधना का यही अर्थ है कि मन की गति–दिशा को परिवर्तित कर लेना। उसे असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश की ओर मोड लेना ही इस साधना का ध्येय है। यह मानस–परिवर्तन आत्मा को उसके विभाव से निकाल कर स्वभाव मे अवस्थित बना देगा।

ससारी आत्मा अनादिकाल से कर्मों से सपृक्त बनी हुई है जिससे उसका मूल विशुद्ध रूप मलिन हो गया है। इस मैल को अनियत्रित मन ओर इन्द्रिया बढाती ही जाती हैं जो परत–दर–परत बहुत गाढा और चिकना हो गया है। इस मैल को दूर करने का एक ही उपाय है कि विकार बढाने वाली इन्द्रियो पर ही अपना अनुशासन स्थापित किया जाय ओर इसमे सहायता करता है समीक्षण ध्यान अर्थात् वृत्तियो के सशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण की साधना। इस साधना का यह उद्देश्य कतई नहीं हे कि मन को गतिहीन बना दिया जाय अथवा वृत्तियो का अवरूधन कर दिया जाय। वृत्तियों के सशोधन, उदात्तीकरण तथा रूपान्तरण का कार्य करेगी समीक्षण ध्यान साधना, जो मन की गति को रोकेगी नहीं, शुभ दिशा मे मोड देगी। साधक मन की गति को मोडेगा ओर मन इन्द्रियों को मोडेगा। यह क्रम चलता रहेगा ओर नियत्रण का चक्र भी सुचारू रूप से घूमता रहेगा।

समीक्षण ध्यान के परिप्रेक्ष्य मे 'समीक्षण' का अर्थ सदर्भ स्पष्ट हो जाना चाहिये। समीक्षण शब्द का अर्थ है सम्यक् रीति से अथवा समतापूर्वक देखना–निरीक्षण करना। यह शब्द दो शब्दो सम्+ईक्षण के सयोग से बना है। इसका भावार्थ यह हुआ कि अपनी ही वृत्तियो को हम सम्यक् रीति से समभाव पूर्वक देखे और निरन्तर उनका निरीक्षण करते रहे। फलस्वरूप चित्तवृत्तियो की कलुषितता हमको समझ मे आयेगी तो यह भी समझ मे आयगा कि उनका परिशोधन कैसे किया जाय ?

समीक्षण ध्यान हमारे ज्ञान–चक्षु खोलेगा ही नही, बल्कि वह स्वय ज्ञान–चक्षु रूप बन जायेगा। एक साधक कालुष्य को देखेगा तभी उसका परिशोधन भी कर सकेगा। अपनी प्रारभिक भूमिका मे वह केवल अपनी चित्तवृत्तियो का सम्यक् निरीक्षण ही कर सकेगा। निरीक्षण से ही वह जान सकेगा कि मन किन–किन अशुभ प्रवृत्तियो मे गतिशील हो रहा है ? उन प्रवृत्तियो के उद्दीपक हेतु क्या–क्या हैं ? इस जानकारी के बाद ही उन वृत्तियो की अशुभता से शुभता मे प्रवृत्ति हेतु साधक अपने प्रयासो को तेज कर सकेगा। इस प्रकार का अनुचितनपूर्ण निरीक्षण ही समीक्षण ध्यान की भूमिका का कार्य करेगा।

समीक्षण की इस प्रक्रिया के साथ व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध स्थूल चिन्तन की ओर मुडना होगा। व्यक्ति अकेला नहीं होता, वह अपनी सामाजिकता से भी बधा हुआ होता है और इसलिये उसे समाज, परिवार अथवा अन्य सगठनो से सम्बन्धित प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त होना पडता है। यह उसकी व्यावहारिक अनिवार्यता है। इसलिये अपनी साधना के समय साधक को यह चिन्तन करना चाहिये कि विवशतावश उसको अपने समाज या अन्य सगठनों से सम्बन्धित अशुभ प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त होना पडता है यह उसकी आत्मिक दुर्बलता है। अशुभ को अशुभ रूप मे स्वीकार कर लेने से भी साधना को बल ही मिलता है। ऐसा ही विचार अपने अनैतिक आचरण के प्रति भी उठना चाहिये और साथ–साथ उस दुर्बलता को यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र दूर करने का भी मानस बनना चाहिये। विवशताजन्य असत्प्रवृत्तियो के प्रति पश्चात्ताप की भावना उभरनी चाहिये। इससे प्रायश्चित लेने की धारणा बनेगी क्योंकि प्रायश्चित उस भूल के प्रति सावधानी रखने के भाव का गहरा अकन कर देता है। मन पर गभीर प्रभाव को अकित बनाये रखने का सरल उपाय यह है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक इच्छित वैषयिक पदार्थ उसे न दिये जाय जिससे उसकी आसक्ति टूटती चली जाय। टूटती हुई आसक्ति मे उसको जो सकल्पपूर्वक निर्देश दिये जायेगे, उसकी पालना वह अवश्य करेगा। निर्देश देने के समय यह ध्यान मे रखा जाना चाहिये कि मन की उन वृत्तियो का भी रूपान्तरण हो जो विवशता, प्रमाद अथवा दुर्बलता के घेरो मे बधी हुई हैं। उन वृत्तियो को भी जब परिमार्जित करने का पुरुषार्थ प्रकट होगा, तब समीक्षण ध्यान का भी वैज्ञानिक रूप अधिक सक्रिय बन जायेगा। यह सही है कि सभी भूलो या त्रुटियो का एक साथ परिमार्जन नहीं हो सकेगा किन्तु स्थूल वृत्तियो को शुभता की ओर मोडने के साथ सूक्ष्म दोषो पर भी साधक की दृष्टि अवश्य चली जायेगी। इस प्रकार जब तक चित्त मे समीक्षण के प्रति

उत्साह, उमग ओर मन की गहरी भूख बनी रहे तब तक साधक आत्मावलोकन अथवा व्यवहार–दर्शन की इस प्रक्रिया मे सलग्न बना रहे। चिन्तन का समय इस तरह बढाया जाता रहे कि उससे मन ऊबे नही। क्योकि शुरू मे ही मन ऊब जायेगा तो वह चिन्तनशील आगे नही बढ सकेगी।

समीक्षण का द्वितीय चरण

जीवन के व्यावहारिक परिवेश मे मनोवृत्तियो का समायोजन करने के बाद आत्म लक्ष्य मे प्रवेश का समीक्षण का द्वितीय चरण प्रारभ होता है। ओर यह चरण होता है आदर्श स्थिरता का। किसी भी उच्च्य आदर्श की स्थिरता के अभाव मे साधना मे अबाध गति उत्पन्न नहीं होती है। साधना का ही प्रश्न नही, किसी भी शुभ कार्य के प्रति तब तक समर्पित भाव उत्पन्न नहीं होता हे जब तक कि कोई आदर्श–कल्पना सामने न हो। एक व्यवसायी भी अपने व्यवसाय को प्रारभ करने से पूर्व किसी समर्थ सफल व्यवसायी को आदर्श मानकर ही व्यवसाय के क्षेत्र मे आगे बढ सकता है। ठीक इसी प्रकार साधना के क्षेत्र मे कदम बढाने से पहले किसी आदर्श को सामने रखना अनिवार्य है। किन्तु यह आदर्श परमोच्च एव परम श्रेष्ठ होना चाहिये। यह आदर्श जितना उच्चतम होगा, उतनी ही साधना की गति ऊर्ध्वगामी बनेगी। इसलिये अपना आदर्श निर्धारण करने मे जागृत वृत्ति की आवश्यकता होती हे।

प्रश्न है कि आदर्श कैसा होना चाहिये ? आदर्श वही हो जो अपने लक्ष्य का सर्वोत्तम प्रतिमान बन सके। वह लक्ष्य क्या है ? वह लक्ष्य है आत्मा को सर्वविशुद्ध रूप प्रदान करके सिद्धावस्था तक पहुँचाने का। साधक का प्रथम चिन्तन इस दृष्टि से आदर्श का अनुचिन्तन ही होगा जो यह भान दिलाता हे कि यह मानव–जीवन मात्र इसी जीवन तक सीमित नही हे। यह विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करते हुए ऐसे सशक्त साधन के रूप मे मिला है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनुकूल वातावरण प्रदान करता हे। इस जीवन ओर अन्य दुर्लभ प्राप्तियो के पश्चात् आत्म–कल्याण के लक्ष्य से विचलित रहना, पुण्यमय सयोगो का सदुपयोग नही करना तथा भौतिक पदार्थो के उपार्जन मे ही बहुमूल्य समय का दुरुपयोग करना कतई समुचित नही है।

साधक का यह चिन्तन चलना चाहिये कि मुझे आज जो अनुकूलताएँ मिली हैं, क्या मैं आत्म–विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि ये सब मुझे आगामी जन्म मे भी प्राप्त होंगी ? और यदि ऐसा नही है तो उनका इसी जीवन मे

पूर्ण सदुपयोग कर ही लेना चाहिये क्योंकि मात्र भौतिक साधनों की उपलब्धि का मार्ग अज्ञान के अधकार से आवृत्त होता है। अधकार की ओर गति करना मेरा लक्ष्य नहीं है। यदि में अधकार मे ही रहूँ तो ये इन्द्रियॉ भी काम भोगो की तरफ आकर्षित होती रहेगी। समस्त दृश्य, श्रव्य अथवा अस्वाद्य पदार्थ मुझे अपने आदर्श लक्ष्य से विचलित करने की ही क्रिया करते रहते हैं। इसलिए मुझे इन सबसे ऊपर उठकर अपने आत्म--साक्षात्कार की ओर इस गति से बढना चाहिये कि जहॉ अधकार ही एक रेखा तक न रहे--चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश हो। इस प्रकाश मे आत्म--ज्ञान का, अनन्त सूर्यो से अधिक तेज होते हुए भी परम शान्ति का आलोक व्याप्त होता है। लोगस्स के पाठ मे 'आइच्चेसु अहिय पयासयरा' के अश से ऐसे ही प्रकाश का उल्लेख किया गया है। अत मेरा आदर्श भौतिक पदार्थो का अनुबधित प्रकाशाभास नहीं, अपितु अपनी ही आत्मा से उद्‌घाटित होने वाला अपूर्व प्रकाश है। यह प्रकाश है सत्, चित् एव आनन्दमय। यह परमोच्च आदर्श मुझे मेरी साधना मे प्रतिपल अपने सामने रखना है। यही सर्वोत्तम आदर्श है।

भविष्य के निर्धारण का चरण

यह सर्वोत्तम आदर्श ही साधनारत आत्मा का प्रकाश स्तभ होता है। आदर्श के निर्धारण एव उसी प्रकार लक्ष्य के सस्मरण द्वारा आत्मलक्षी अन्तरावलोकन करने के बाद जब तक साधक पुन अपने व्यावहारिक जीवन मे लौटता है तब उसका तीसरा और अन्तिम चरण आरभ होता है। यह अन्तिम चरण होता है अपने भविष्य के सम्यक् रीति से निर्धारण का।

साधक की अन्तर्यात्रा का आरभ बाहर से भीतर मे प्रवेश करने के रूप मे होता है यानी वह अपने व्यावहारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन मे प्रवेश करता है, देह से चेतना की तरफ उन्मुख होता है। किन्तु यह क्रम पहले सामयिक ही रहता है क्योकि साधना में निश्चित अवधि तक बैठने के बाद वह फिर से अपने व्यावहारिक जीवन में चला जाता है। किन्तु उस का यह प्रत्यावर्तन भी उसे अपने लक्ष्य एव आदर्श से विस्मृत नहीं बनाना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन की ही यथोचित सम्यक् पूर्ति उसके व्यावहारिक जीवन मे भी होनी चाहिये। फिर बार--बार जो एक जीवन से दूसरे जीवन में भावनात्मक प्रत्यावर्तन होता रहेगा, उसमे भावनात्मक परिवर्तन एव उच्चतरता की अपेक्षा रहेगी। तब यह प्रत्यावर्तन एक दूसरे का सम्पूरक बन जायेगा बल्कि यों कहें कि दोनों जीवन आध्यात्मिकता से ओतप्रोत होने लगेंगे। व्यावहारिक जीवन में भी आदर्श एव लक्ष्य के अनुकूल आचरण का विस्तार हो जायेगा।

भविष्य क निर्धारण के प्रति तब साधक का सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित होने लगेगा। तब उसकी सकल्प शक्ति भी बलवती होने लगेगी। जब वह व्यावहारिक जीवन मे लोटेगा, तब पहले की तरह विषम परिस्थितियो के सामने झुकेगा या गिरेगा नही। उनसे सम्हल कर चलेगा, अपितु उन्हे सुधारने का सत्प्रयास भी करेगा। उसकी इस सजग वृत्ति से उसके व्यावहारिक जीवन मे भी लोकोपकार की भावना पैदा होगी। वह सोचेगा कि जिस लक्ष्य एव आदर्श को मैं उत्थानकारी मानता हूँ और जिस दिशा मे मैं गति कर रहा हूँ, क्यो नही प्रत्येक मानव भी उस लक्ष्य और आदर्श को उत्थानकारी माने ओर क्यो नही, प्रत्येक मानव उसी दिशा मे गति करे ? यह उसकी लोकोपकार की भावना होगी। इस दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक जीवन मे अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन मे अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन मे प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी चरण बन जायेगा। समुच्चय रूप से इस परिप्रेक्ष्य मे तब एक साधक अपने भविष्य का निर्धारण समतापूर्वक करना चाहेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से साधक अपने भविष्य का निर्धारण इस रूप मे करना चाहेगा कि उसकी साधना विस्तृत और व्यापक बने। इसका अर्थ हे कि उसकी साधना अव्यक्त रूप से उसके व्यावहारिक जीवन मे भी स्थान पावे ओर फेले। आध्यात्मिक जीवन से पुन अपने व्यावहारिक जीवन मे लोटते समय उसको अपने क्रियाकलापो मे सबसे पहले प्रबलतम सकल्प के साथ-साथ सामयिक निश्चितता एव समय की नियमितता पर विशेष ध्यान देना होगा। क्योकि उसी आधार पर वह अपने चौबीसो घटो का कार्यक्रम निश्चित कर पायेगा। आगे के कार्यक्रम का निर्धारण उसे साधना से उठते ही कर लेना चाहिये जो पुन साधना मे अवस्थित होने तक का हो। इस कार्यक्रम को इस प्रकार निश्चित करना चाहिये कि उसमे प्रत्येक मिनिट का हिसाब हो। एक भी मिनिट न आलस्य मे खोया जाय ओर न एक भी मिनिट का दुरुपयोग किया जाय। इससे आगे बढकर यह निश्चय किया जाय कि अधिकाधिक समय स्व-पर लोक-कल्याण मे नियोजित हो। ज्यो-ज्यो साधना का क्रम सघन होता जाय, त्यो-त्यो स्व-पर कल्याण की निष्ठा भी प्रबल बनती जाय। साधक के जीवन मे तब वह स्थिति उत्पन्न हो सकती हे, जहाँ उसके दोनो प्रकार के जीवनो मे गहरा सामजस्य पैदा हो जाय। उसी स्थिति मे दोनो जीवन अपने वास्तविक अर्थ मे एक दूसरे के सम्पूरक बन सकेंगे। फिर दैहिक चिन्ताओ से निवृत्ति भी की जा सकेगी तो निर्वाह हेतु

व्यवसाय का सचालन भी हो सकेगा, तब भी भावनात्मक लक्ष्य सुस्थिर बना रहेगा और प्रतिपल आत्म चिन्तन की वृत्ति ही प्रबल एव मुखर बनती जायेगी।

फिर साधक को अपने अगले चोबीस घटो का पक्का कार्यक्रम भी बनाना चाहिये। साधना के समय पिछले चौबीस घटो का आलोचनात्मक लेखा–जोखा भी लेना चाहिये। उदाहरणार्थ जब साधक अपनी साधना से उठे तो पूरे चौबीस घटों का अग्रिम कार्यक्रम निश्चित करे कि इतने बजकर इतने मिनिट पर वह अपनी व्यावहारिक चिन्ताओ से निवृत्ति पा लेगा व फिर इतने बजकर इतने मिनिट तक अमुक कार्य करेगा। सारी दिनचर्या इस रूप मे सुनिश्चित हो जानी चाहिये। उसे निश्चय करके ही विराम नहीं ले लेना चाहिये बल्कि सशक्त मानस के साथ उस कार्यक्रम का उसे उसी रीति से अनुसरण भी करना चाहिये। उसमे प्रमादवश या अकारण किसी प्रकार का अन्तर नही आना चाहिये।

सहजता जीवन का अग बने

एक साधक के लिए इस रूप मे समय निर्धारण एव कठोरतापूर्वक उसके पालन के साथ साधना की दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि वह जिस किसी कार्य मे सलग्न होता है, उसमे उसकी समस्त वृत्तियॉ समर्पित भाव से प्रवर्तित होनी चाहिये। उसका सम्पूर्ण ज्ञान, विवेक एव उपयोग उस कार्य की सम्पूर्ति मे लग जाना चाहिये। समझिये कि एक साधक शास्त्र अथवा उपयोगी ग्रथ का वाचन कर रहा है तो उसका समग्र ध्यान उस वाचन मे केन्द्रित हो जाय–इस तरह कि जेसे वह उस आनन्द मे निमग्न हो गया हो। उसे ऐसी अनुभूति हो कि उसका चित्त उस कार्य मे पूरी तरह से रस ले रहा है। तल्लीनता उसका आत्मगुण बन जाना चाहिए। ऐसी तल्लीनता आध्यात्मिक कार्यो मे तो हो ही किन्तु उस तल्लीनता का प्रसार उसके व्यावहारिक जीवन मे भी हो जाना चाहिये। जैसे वह जब भोजन कर रहा हो तो जो भी सामने हे मुदित मन उसको प्रेमपूर्वक खावे और उसी तल्लीनता से खावे।

तल्लीनता का यह आत्म–गुण परिपुष्ट तब बन सकेगा, जब एक कार्य करते हुए दूसरे कार्य का स्मरण तक न किया जाय। जब साधक ग्रन्थ का वाचन कर रहा हो तब अन्य साधना के बारे मे भी नहीं सोचे। किसी सासारिक कार्य के लिए सोचने का सवाल ही नहीं है। इसी प्रकार जब वह भोजन कर रहा हो तो स्नान करने के बारे मे नहीं सोचे। प्रत्येक क्रिया के प्रति इस तल्लीन भाव से उस क्रिया की सार्थकता का सीधा अनुभव होगा।

इसी तल्लीनता को एकावधानता का नाम दिया गया है और यही जीवन की सहजता है अथवा 'सहज योग' की साधना है। जो कार्य जिस समय कर रहे हैं, उसी मे अपनी चित्तवृत्तियो का सारा ध्यान केन्द्रित हो जाय और अन्य कोई बात स्मृति तक मे नही आवे, तब एकाग्रता का सुन्दर अभ्यास बनेगा। एकाग्रता से अपनी सम्पूर्ण शक्तियॉ जब एक ही कार्य मे निरत बनेगी–समर्पित हो जायेगी तब उस कार्य की सफलता भी असदिग्ध हो जायेगी। धीरे–धीरे यह अभ्यास इतना सपुष्ट बन जायेगा कि पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार प्रत्येक कार्य सहजतापूर्वक सम्पन्न होने लगेगा। यो कहे कि सहजता जीवन का अग बन जायगी।

सहज योग की साधना की यही उत्साहकारी भूमिका भी बन जायेगी। यह समीक्षण ध्यान साधना का तीसरा चरण अथवा अन्तिम आयाम होगा कि हाथ में लिये हुए कार्य के प्रति अथवा यदि कोई चिन्तन कर रहे हैं तो उस चिन्तन के प्रति समग्र समर्पण का सकल्प बन जाय। सकल्प की दृढता यहॉ तक बन जाय कि धारणा ले लेने के बाद भोजन के समय एक–एक कृत–क्रिया पर सजगता की आलोचना हो सके। रोटी का टुकडा तोडते समय और कवल मुह मे रखते समय अथवा उसको चबाते समय साधक का उपयोग जागृत रहे। उसके मन मे यह विचार चलता रहे कि मैं अपनी प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करूगा तथा उससे उत्पन्न होने वाले प्रत्येक प्रभाव की सम्यक् समीक्षा करूगा। उसका एक भी कवल बिना इस प्रकार की सजगता के मुॅह मे नहीं जावे और न मुॅह से गले में उतरे। यह सजगता भोजन के समय मे ही रहे ऐसी बात नहीं है। साधक की प्रत्येक क्रिया मे उसकी ऐसी सजगता वर्तमान रहनी चाहिये।

भोजन के समय मे अथवा अन्य किसी कार्य के समय मे साधी जाने वाली ऐसी सजग साधना से 'सहज योग' की साधना तो होगी ही किन्तु साथ–साथ मे ऐसी साधना का सुप्रभाव शरीर के विविध अगोपागो पर भी पडेगा। जैसे भोजन के समय की ऐसी साधना उसकी पाचन क्रिया को सरल व सहज बना देगी। सतत जागृति के कारण खाद्य पदार्थो का मुॅह मे चर्वण अच्छी तरह से होगा तो उसमे पाचक रसो का सम्मिश्रण भी समुचित रीति से समव बनेगा। भोज्य पदार्थ जितना सात्विक होगा, उतना ही वह सुपाच्य भी होगा। प्राणशक्ति के सवर्धन के लिए पाचन क्रिया का सुव्यवस्थित होना भी आवश्यक है। उसी प्रकार प्राण शक्ति का सवर्धन साधना की सफलता के लिये भी आवश्यक होता है। अत भोजन के समय ऐसी तल्लीनता और

जागृति रखी जायेगी तो उससे शारीरिक स्थिति भी व्यवस्थित रहेगी ओर साधना का सम्बल भी अभिवृद्ध बनेगा। भोजन ग्रहण करने के समान ही दिनचर्या की प्रत्येक क्रिया मे साधक को ऐसी ही तल्लीनता एव जागृति साधनी चाहिये। सतत सावधानता साधना की मूल वृत्ति हो जानी चाहिये।

साधना के इस त्रिचरणात्मक समीक्षण क्रम मे पिछले चोबीस घटो की क्रियाओ का सस्मरण एव आगामी चौबीस घटो की क्रियाओ का निर्धारण नियमित बन जाना चाहिये। और इन दोनो के बीच मे जो आध्यात्मिक साधना का क्रम चलेगा, उसमे आदर्श लक्ष्य का एकावधान अनुचिन्तन भी नियमित रूप से चलना चाहिये। जहॉ–जहॉ मनो–वृत्तियो का स्खलन होता हो, वहॉ–वहॉ साधक को अपनी सावधानी का सम्बल बढाते रहना चाहिये। साधक को यह ध्यान रखना चाहिये कि साधना–काल मे मन उसका अनुचर बनकर रहे तथा उसके प्रत्येक निर्देश की यथावत् अनुपालना करे। इस दृष्टि से मन की एकाग्रता का सकल्प प्रतिक्षण स्मृति–पटल पर आता रहना चाहिये ताकि उसके तनिक से इधर–उधर होते ही उसे पुन अपने स्थान पर आ जाने के लिये बाध्य किया जा सके। क्योकि मन को अनुचरवत् अनुशासित किये बिना सकल्पो का सशक्त बन पाना समव नही होता हे। और जब तक सकल्प सशक्त न बन सके तब तक लक्ष्य सिद्धि असमव बनी रहती है। अत लक्ष्य के प्रति पल–पल जागृति के साथ मनोवृत्तियो का नियमित समीक्षीकरण साधना का अनिवार्य पक्ष माना जायेगा। समीक्षण मे जागृति की नितात आवश्यकता होती हे।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारी आत्मा का लक्ष्य सिद्ध–स्वरूप का साक्षात्कार करना है। परम चैतन्य सत्ता की अभिव्यक्ति तथा अविचल शान्ति पूर्ण विश्रान्ति ये ही अपनी साधना के उच्चतम लक्ष्य हैं जिनके लिये त्रि–आयामी समीक्षण ध्यान पद्धति का निरूपण किया गया है। यह पद्धति मन स्थिति को सुदृढ बनाकर एकावधानी बनाने की भूमिका मात्र है जबकि समीक्षण ध्यान की उन्नति असीम होती है। एकाग्र तल्लीनता अथवा एकावधानता स्वय सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य की पृष्ठभूमि मात्र हे। यहॉ पर यह भी याद रखना चाहिये कि पूर्व भूमिका स्वरूप समीक्षण ध्यान के ये तीनो चरण प्रतिदिन की प्रखरता के साथ सूक्ष्मता मे अवगाहन करने वाले बनते जावे। प्रतिदिन घटित होने वाली बातो पर जब प्रतिदिन चिन्तन चलता रहेगा, तब वह स्वय तो साधना नहीं होगी किन्तु साधना को उससे पुष्टि अवश्य मिलेगी। चिन्तन, साधना रूप तब बनेगा जब वह विषय

की सूक्ष्मता मे प्रवेश करके सूक्ष्मतम तलस्पर्शिता तक पहुँचेगा। गूढता जितनी बढती जायेगी, चिन्तन उतना प्रभावित बनता जायेगा। 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ' की उक्ति को सामने रखकर अधिकाधिक गभीरता अर्जित की जानी चाहिये।

किन्तु गूढता और गभीरता अपने चिन्तन मे अभिवृद्ध होती रहे इसके लिये साधक को क्या करना चाहिये ? चिन्तन का क्रम तब तक ही चलाया जाना चाहिये जब तक मन–मस्तिष्क मे किसी प्रकार का तनाव पैदा न हो। ज्यो ही यह अनुभव हो कि चिन्तन के प्रति उत्साह और उमग में न्यूनता आ गई है त्यो ही चिन्तन के विषय को बदल लेना चाहिये। साधक के लिए इस प्रकार की सावधानी तीनो मे से प्रत्येक चरण मे आवश्यक है। जरा–सा भी तनाव आ जाय तो थोडी देर के लिए विश्रान्ति ले लेनी चाहिये ताकि चिन्तन का पुन आरम्भ मस्तिष्क की ताजगी के साथ हो। दूसरे चरण मे भी आदर्श के अनुस्मरण रूप सावधानी आवश्यक होती है। अनुस्मरण करते–करते साधक को तदनुरूप की अनुभूति होनी चाहिये। उसके मन मे ऐसा सुदृढ सकल्प उठना चाहिये कि मेरी अन्तश्चेतना मे अनन्त सूर्यों की अपेक्षा भी अधिक देदीप्यमान प्रकाश विद्यमान है। आत्म–स्वरूप रूपी आकाश मे वह प्रकाश चमचमा रहा है। मेरे आत्मिक धरातल पर अनेक शक्तिस्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ जैसे कि मेरे भीतर अपार शक्तियो की अभिव्यक्तिया हो रही हो।

यह निश्चित है कि साधना के इस स्तर तक पहुँचने मे पर्याप्त समय की अपेक्षा रहेगी। इसका कारण भी स्पष्ट है। दीर्घकाल से विश्रृखल, विषम एव उद्दड बनी आत्मा की वृत्तियो को एकदम जीत लेना कठिन है। उसी प्रकार सर्वोच्च सिद्धि के लिए प्रयत्न भी सर्वोत्कृष्ट होने ही चाहिये। अपने जीवन–व्यवहार मे देखा जाता है कि बीज बोने के साथ ही फल की प्राप्ति नही हो जाती है। किन्ही फलो को प्राप्त करने के लिए कई महीनो तक और आम जैसे फल को प्राप्त करने के लिये कई वर्षो तक प्रतीक्षा करनी पडती है। जब भौतिक फलो की प्राप्ति के लिये भी सन्तोष के साथ प्रतीक्षा कर ली जाती है और उसकी प्राप्ति मे अविश्वास भी नही रखा जाता है, फिर आध्यात्मिक साधना के फल की कामना करते हुए धैर्य क्यों छोड देना चाहिये ? निश्चित विश्वास तथा अगाध धैर्य के साथ ही साधना की जायेगी तो साध्य का साक्षात्कार भी निश्चित रूप से हो जायेगा। यह सही है कि आध्यात्मिक विषय के अनुसार इन्द्रियाँ ओर उसी प्रकार मन भी अपना नहीं,

'पर' होता है—सभी दृश्य पदार्थो से परे होकर ही अदृश्य सत्ता—आत्मज्योति पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है। यह केन्द्रीकरण की साधना एक जन्म ही नहीं बल्कि कई बार अपने सम्पूर्ण विकास मे कई जन्मो का समय ले लेती है। महान् योगी अथवा धुरधर साधक भी इस ध्यान साधना मे सफल बन ही जाय ऐसा नही होता। इसलिए एक साधक को यह बात याद रखनी चाहिये कि उसे एकनिष्ठा ओर सुदृढ सकल्प की प्रतिज्ञा लेकर अविचल विश्वासपूर्वक प्रगति के पथ पर आगे से आगे बढते ही जाना है। क्योंकि कभी—कभी साधना मे होने वाली थकान या सुस्ती उसके व्यवस्थित क्रम को अस्त—व्यस्त कर सकती है और ऐसे क्रमभग से साधक का विश्वास डगमगा सकता है या साधना के प्रति अरुचि जाग सकती है। अत आवश्यक है कि दृढ निश्चय एव अगाध धैर्य के साथ साधक को विधिपूर्वक साधना के प्रति समर्पित होना चाहिये और किसी भी प्रकार की अरुचि, थकान या सुस्ती को दूर रखनी चाहिये।

शक्ति केन्द्र के प्रति सावधानी

इस साधना क्रम मे सर्वाधिक जागृति की आवश्यकता तब प्रतीत होती है जब हमारे दिल के कोनो मे जम कर बेठी हुई दूषित वृत्तियॉ भारी तूफान मचाती हैं। साधना के समय जब सोई हुई शक्तियॉ जागती हैं, तब चारो तरफ पवित्रता का एक अनूठा वायुमडल तैयार होता है। उस वायुमडल से उन दूषित वृत्तियो का जमा हुआ आसन डोलने लगता है। अपने जमे हुए आसन को कौन आसानी से छोडना चाहता हे ? परिणामस्वरूप जागती हुई आत्म—शक्तियो तथा जमी हुई दूषित वृत्तियो के बीच मे एक प्रकार का सघर्ष शुरू हो जाता है। यदि साधना का सकल्प दृढतर हुआ तो असत्वृत्तियो को अपना आसन छोड देना पडेगा और साधक को विजय—श्री मिल जायेगी। यदि ऐसी परिपक्व मनोदशा नही बन पाई तो अनादिकालीन दूषित विचार उस साधक की साधना को छिन्नभिन्न कर डालेगे। उस दशा मे हताशा और निराशा मे डूबकर साधक लक्ष्य—भ्रष्ट हो जायेगा। अत इस प्रकार की सावधानी अत्यन्त आवश्यक हे कि जब विकारपूर्ण दूषित वृत्तियॉ अपना असर दिखाने लगे तभी तुरन्त आत्मशक्ति के सबल को जागृत बना लेना चाहिये ताकि अपनी उच्छृखलता के प्रारभ मे ही उन वृत्तियो को परास्त किया जा सके। इतना ही नही, उन वृत्तियो के उभरने के कारणो को ही अवरूद्ध बना देना चाहिए। इन वृत्तियो के पहले ओर हल्के आक्रमण के साथ इस तरह का चिन्तन शुरू कर दिया जाना चाहिये कि ये वृत्तियॉ मेरी स्वाभाविक नहीं, 'पर'

से प्रभावित होने से पराई है–आई हुई हैं, जिन्होने मेरी आत्मशक्ति पर अपना डेरा डाल दिया हे और मेरी चेतना को व्यामोहित करके उसकी प्रभा हर रखी है।

इन दूषित वृत्तियो का आगमन और उनका मेरे आत्मस्वरूप पर आक्रमण तथा निवास होने का एकमात्र कारण यह है कि मैं असावधान रह गया और ये वृत्तियाँ अकुरित और फलित होती गयी ऐसा चिन्तन करते हुए एक साधक को उभरती हुई अपनी दूषित वृत्तियो का तत्काल उपशम कर देना चाहिये ताकि उनके कमजोर पड जाने पर उनका सरलतापूर्वक क्षय किया जा सके। वह निश्चय करे कि अब ये वृत्तियाँ उसकी आत्मशक्तियो को दबाकर नहीं रख सकेगी। अब यह इन्द्रिय जन्य क्षणिक आनन्द सत्‌चित् रूप शाश्वत आनन्द को आवृत्त नहीं कर सकेगा। क्योकि यह दोष उन वृत्तियो का नहीं मेरा स्वय का है। मैं असावधान नहीं रहता तो भला ये वृत्तियाँ कितनी ही दूषित क्यो न होती, मेरा क्या बिगाड सकती थी ? असावधान मालिक के घर मे कोई चोर घुस जाय और सारी व्यवस्था को अस्तव्यस्त करके वहीं बस जाय तो इसमे चोर को दोष देने से कोई लाभ नहीं होगा। दोष सारा घर के मालिक का है जो असावधान रहा और घर के दरवाजों मे घुसने से चोरो को पहले ही रोक नहीं सका। इसी प्रकार की असावधानी के कारण दूषित वृत्तियाँ कभी चोर की तरह तो कभी डाकू की तरह आत्मस्वरुप के पावन मन्दिर मे घुस आती हैं और अपनी विद्रूपता फैला देती हैं। साधक के जागृति के क्षणो मे इसी कारण ये विद्रूप वृत्तियाँ उसके जागरण को आच्छादित बनाती रहती हैं। इसलिए साधक को मूल पर ही प्रहार करना होगा और इन वृत्तियो की सक्रियता को ही मन्द बनाते हुए उन्हे पाप–पथ से हटानी होगी।

साधक अपनी इन वृत्तियो का समीक्षण करते हुए सोचे कि यह मेरी विराट् भूल थी जो मैंने इन क्षुद्र वृत्तियो मे आनन्द की खोज की और मैं यह खोज करता ही रहा। तभी तो ये वृत्तियाँ मेरे अन्त करण मे जम ही गई। किन्तु जब से मेरी दृष्टि आत्म–शक्ति की तरफ केन्द्रित बनी है तब से मैं इन वृत्तियो की क्षुद्रता एव कलुषितता को भलीभाति समझ गया हूँ। मुझे इस सत्य का भी ज्ञान हो गया है कि इन वृत्तियो से मिला मेरा आनन्द क्षणिक क्यो हैं ? और क्यो नही मैं अब तक तत्त्वदृष्टाओं द्वारा वर्णित शाश्वत आनन्द को उपलब्ध कर पाया ? किन्तु अब मेरी आत्म–ज्योति प्रज्वलित हो गई है तथा मेरी आन्तरिक शक्तियाँ क्रियाशील बन गई हैं अत मैं फिर से उन दूषित एवं विकृत वृत्तियो के दुष्चक्र मे नहीं फसूगा।

साधक तब यह अनुभव करेगा कि इस ज्योति ओर जागरण की उसको जो उपलब्धि हुई है, वह मात्र समीक्षण ध्यान का ही सुफल है और वह अपनी चिन्तन धारा को आगे बढायेगा–समीक्षण ध्यान के द्वारा ही मैं अपनी आत्म–शक्ति को देख और परख सका हूँ ओर उसके गहरे तल तक में पहुँच पाया हूँ। समता की दृष्टि से जब मैंने अपने आत्म–स्वरूप को निहारा तो मुझे आश्चर्यमिश्रित दु ख हुआ। आश्चर्य तो इस बात का कि मैं कितनी असीम शक्तियो का धनी हूँ और दु ख इस बात का कि फिर भी मैं कितना अशक्त बना हुआ अपने निजत्त्व को भी पहिचान नही पा रहा था। मेरी मूल सत्ता केवल आनन्दरूप है, फिर भी मैं आनन्द की खोज बाहर ही बाहर करता रहा। शाश्वत आनन्द का असीम कोष मेरे भीतर ही विद्यमान होने के बावजूद मैं इन्द्रियो के मलिन विषयो में डूब गया था। शक्ति और श्री का स्वामी होने के बाद भी मैं अपने भ्रम के कारण राह भटकता भिखारी बन गया। मेरा यह भ्रम ही आज मेरे लिये आश्चर्य और दु ख दोनो का विषय बना हुआ है। विनश्वर पदार्थों के लिये मैंने अपनी सम्पूर्ण जीवन शक्ति समर्पित कर दी और अपने भव्य स्वरूप को भूल गया–इससे बढकर और क्या दु ख हो सकता है ?

साधक का दृष्टा पक्ष तब अपने ही आत्मस्वरूप पर फैल रहे अधकार को देखेगा, मैल की परतो को पहिचानेगा और अपनी विभाव दशा का निरीक्षण करेगा। ज्यो–ज्यो उसका निरीक्षण गहरा होता जायेगा, त्यो–त्यों एक बार तो अपनी विदशा देखकर उसका दु ख भी बढता जायेगा किन्तु उसके साथ ही अपनी साधना के सदर्भ मे आशा की प्रकाश रेखाएँ भी खिच जायेगी कि अब उसका पुरुषार्थ उसकी आत्मा की विद्रूपता को परिमार्जन, सशोधन एव सशुद्धि की त्रिरूपवती प्रक्रिया के द्वारा उज्ज्वल बनाकर उसे स्वरूपवती बना देगा। दु ख और खेद का विषय यह होगा कि अपना स्वरूप अनन्त आलोकमय होने के बावजूद वह अधकार में ठोकरे खाता रहा, और भटकता रहा। सत् चित् ओर आनन्द स्वरूप अनिर्वचनीय अलोकिक आत्मशक्ति के ऊपर इन विकारी वृत्तियो के कारण जो धुआ और कोहरा छा गया है, उसकी ही वजह से वह अपने स्वरूप को पहिचान नहीं पाया। कितने गहरे अज्ञान मे डूबा हुआ था वह, कितनी प्रगाढ मोह निद्रा ने उसे आत्म–विस्मृत बना दिया था और वह स्वामी होकर किस प्रकार दासों का दास बन गया था ? इस प्रकार एक साधक का अपनी विकृत दशा पर आश्चर्य और खेद प्रकट होता रहता है।

साधक जब सद्गुरु का मार्गदर्शन ग्रहण करता है तो उसके ज्ञान–चक्षु खुल जाते हैं और वह समझ जाता है कि स्वय ही अपने आपका स्रष्टा है। साधना के एक स्तर तक पहुँच जाने के बाद उसे अनुभूति होने लगती है कि उसकी अन्तरात्मा मे अनन्त शक्ति का अविरल स्रोत प्रवाहित हो रहा है और अनन्त ज्योतिपुज देदीप्यमान हो रहे हैं। उसे अपनी चेतना का भी अनुभव होता है कि वह 'स्व' के अनुशासन मे सचालित होने पर कितनी स्वतन्त्र, कितनी निर्विकारी और किस प्रकार लोकालोक को सम्यक् रीति से अवलोकन करने वाली है ? वह चेतना मात्र ज्ञान और सत्ता को धारण करने वाली है जिस के माध्यम से ही स्वरूप–बोध, स्वरूप–परिचय एव स्वरूप–दर्शन सभव होता है।

इस चेतना को सावधान एव प्रबुद्ध बनाने वाली होती है वीतराग देवो की वाणी, रागद्वेष के कुप्रभाव से मुक्त सर्वप्राणी हितकारिणी उपदेश–धारा। साधक इसी वीतराग वाणी को जब परिपूर्ण सत्य के रूप मे स्वीकृत करता हुआ अपनी साधना के क्षेत्र मे आगे बढता जाता है, तब उसके सामने उस वाणी का मक्खन रूप सार समीक्षण ध्यान अतीव प्रभावोत्पादक बन जाता है। साधक तब समीक्षण ध्यान के सविशेष प्रयोगो द्वारा अपने अनत सुख स्वरूप चेतना बोध के प्रति अधिक सक्रिय हो जाता है। समीक्षण ध्यान के प्रभाव स्वरूप जो दिव्य आत्म–जागृति उसको प्राप्त होती है, वह उसके लिये स्वय को धन्य मानने लग जाता है। उसका वह आत्म–बोध वर्तमान मे तो श्रद्धा रूप ही रहता है किन्तु वही श्रद्धा प्रगाढ रूप धारण करके सम्यक् बनती हुई सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् आचरण को साधक के जीवन में जागृत एव कार्यरत बनाती है। श्रद्धा से उसका आत्मविश्वास बलिष्ठ बन जाता है और मन मे यह धारणा निश्चित हो जाती है कि वह अब अपनी विकृत वृत्तियो को समाप्त करके ही विराम लेगा। वह यह भी निश्चय करेगा कि तब भविष्य मे ये विकृत वृत्तियाँ पुन मेरे भीतर मे कोई स्थान न पा सके। इस प्रकार स्वभाव और विभाव के सघर्ष में शुद्ध आत्म शक्ति की विजय होगी तथा आत्म शक्ति का केन्द्र अधिक तेजस्वी बनेगा।

किन्तु यह उपलब्धि तभी प्राप्त हो सकेगी जब इस आत्मा की चहुमुखी सावधानी बनी रहेगी। साधक को यह अभ्यास बना लेना चाहिये कि वह एक पल के लिए भी असावधान न रहे। सावधानी उसका सहज गुण बन जाना चाहिये।

साधक तब यह अनुभव करेगा कि इस ज्योति अ
उसको जा उपलब्धि हुई है, वह मात्र समीक्षण ध्यान का
वह अपनी चिन्तन धारा को आगे बढायेगा—समीक्षण ह
अपनी आत्म—शक्ति को देख और परख सका हूँ और
में पहुँच पाया हूँ। समता की दृष्टि से जब मैंने अपने
तो मुझे आश्चर्यमिश्रित दु ख हुआ। आश्चर्य तो
असीम शक्तियो का धनी हूँ और दु ख इस बा
अशक्त बना हुआ अपने निजत्त्व को भी पहि
सत्ता केवल आनन्दरूप है, फिर भी मैं आन
रहा। शाश्वत आनन्द का असीम कोष में
मैं इन्द्रियो के मलिन विषयो मे डूब र
के बाद भी मैं अपने भ्रम के कारण
भ्रम ही आज मेरे लिये आश्चर्य
विनश्वर पदार्थों के लिये मैंने अ
अपने भव्य स्वरूप को भूल ग

साधक का दृष्टा र
को देखेगा, मैल की है
निरीक्षण करेगा। ज्ये आते
एक बार तो अपनी ऐसे ि
उसके साथ ही
जायेगी कि अ निर्धारण
संशोधन एव वाली
स्वरूपवती करती
अनन्त कभी साधक इतना
भटक मार्ग सूझ नहीं पडता है।
के एकाग्र बनाने का प्रयत्न करता
र का बल अधिक होता है
अभाव मे कई बार साधक तनाव
घबराहट मे यह सोच लेता है कि अब
नहीं है। कई साधक इस स्तर पर निराश
प्रवेश करने के अपने प्रयत्न को ही त्याग
साधकों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि अपनी

सामान्य स्थिति मे ही जैसे वे समाधिस्थ हो गये हों। क्योकि वे शान्ति के चन्द क्षणो का रसास्वादन कर लेते हैं। उस सामान्य आभास के कारण उन्हे अह का आच्छादन ढक लेता है। इस कारण वे कई प्रकार की भ्रान्तियो के शिकार बन जाते हैं। वे अपनी स्थूल परिधि को ही सूक्ष्म परिधि मान लेते हैं। इस प्रकार के भ्रम से ग्रस्त होकर वे साधक अपने मानस तत्र का कुछ नियत्रण करते हुए भी अपनी आगे की प्रगति को अवरूद्ध बना लेते हैं। क्योकि स्थूल परिधि मे अपेक्षाकृत सन्तोष और समय की वृद्धि को ही वे समाधि की वृद्धि मान लेते हैं जिसके कारण अदम्य उत्साह से परिपूर्ण उनकी आन्तरिक वृत्तियॉ गतव्य स्थान तक पहुॅच जाने के भ्रम मे शिथिल हो जाती हैं। उस शिथिलता के साथ उनकी दुर्बलता भी फूट पडती है। परिणाम स्वरूप यत्किचित् साधी हुई साधना की प्रगति भी समाप्त हो जाती है और गतिशीलता कुठित बन जाती है। इसलिए साधको को अपनी साधना के क्षेत्र मे प्रत्येक पल दृढ सकल्प के साथ निश्चित ध्येय की प्राप्ति हेतु सदैव उत्साहित बने रहना चाहिये।

साधक को चाहिये कि साधना के दौरान जब निराशा और दुर्बलता के ऐसे क्षण आवे तो उन्हे वह आत्म विकास की अपनी महायात्रा का एक पडाव मानकर कुछ विराम ले ले और आत्म चिन्तन को प्रदीप्त बनाकर अपनी तनावपूर्ण एव थकित मानसिकता को दूर हटा दे। यो समझे कि यह पडाव अपनी थकान मिटाने के लिए ही था। इस प्रकार ऐसे आने वाले प्रत्येक पडाव पर साधक अपनी दुर्बल होती हुई शक्तियों का पुन सचय करे तथा परम उत्साह के साथ पुन प्रस्थान कर दे। विफल वह साधक होता है जो ऐसे पडाव को आखिरी मजिल मान लेता है। जिज्ञासु साधक तो विश्राम स्थल को यथोचित रीति से समझकर अपनी प्रगति–पिपासा को अधिक तीव्र बना लेता है तथा अधिक गरिमापूर्ण गति से आगे बढ चलता है। परन्तु स्थूल परिधि मे विचरण करते हुए साधक को अपने मानस–तत्र की उलझनो को सुलझाये बिना कुछ मिलेगा नहीं। ये उलझने किन्हीं बाह्य साधनो अथवा बाहर की क्रियाओ द्वारा सुलझाई नहीं जा सकेगी। इन उलझनो को तो साधक को भीतर मे ही समझनी होगी तथा अपनी साधना के बल से ही सुलझानी पडेगी। साधक आई हुई निराशाजनक इन उलझनो का सम्यक् रीति से अवलोकन करे और उन ग्रथियो को ध्यान मे ले जिन की वजह से उलझनें सामने आई हुई हैं। ये ग्रन्थियॉ मुख्यत अपनी ही मनोवृत्तियों की ग्रथियॉ होती हैं जो एक या दूसरे कारण से ग्रथित हो जाती है। ग्रथियो को

देखते–परखते समय एकावधानता आवश्यक है। इसमे मन भी एकाग्र हो तो शरीर भी स्थिर रहे और ध्यानावस्थित चिन्तन का क्रम चले। तब उन ग्रथियो के कारण भी स्पष्ट हो जायेगे तो उन का निदान भी उभर कर सामने आ जायगा।

ऐसा एकाग्र अवलोकन तभी सफल बन सकता हे जब अहभाव का विसर्जन कर दिया जाय। साधना का अहभाव तो और भी घातक होता है। अहभाव कई बार साधना की प्रगति के प्रति भ्रान्ति के कारण भी उत्पन्न होता है। कैसे भी हो, अहभाव साधना की जडो पर ही कुठाराघात करता है। अत इस एकाग्र अवलोकन के समय अहभाव का लेश मात्र भी नहीं होना चाहिये। साधक विनम्रतापूर्वक ही अपने भीतर की दशा का सम्यक् अवलोकन करे। भीतर की गुत्थियो को सुलझाने के लिए सशोधित वृत्तियो को ही काम मे लें।

समता एव एकावधानतामय जो विवेक जागृत होगा, वही साधक को अपनी गुत्थियॉ सुलझाने मे सहायता करेगा तो उसे पुन आत्म–समीक्षण की प्रक्रिया मे सुदृढता के साथ प्रतिष्ठित करेगा। समीक्षण ध्यान रूपी नेत्रो मे जब प्रकाश भर उठेगा, तब मानस तत्र मे उपजी एक भी गुत्थी अनसुलझी नही रह सकेगी।

आत्म–समीक्षण को सफल बनाने वाली दो भुजाऍ होती हैं–एक एकाग्रता की तो दूसरी समता की। इन दोनो भुजाओं का जब साधक भव्य रीति से सयुक्तिकरण कर लेता है तब दूषित प्रवृत्तियो के साथ सघर्ष करने मे कोई दुर्वलता नहीं रहती हे। एकाग्रता एव समता के दिव्य आलोक मे आन्तरिकता का यह विज्ञान बन जाता है कि साधक अपने समीक्षण ध्यान के बल पर अपनी अन्तर्वृत्तियो का अवलोकन करते हुए उन्हे सुव्यवस्थित बना ले तथा आत्म विकास की महायात्रा मे सफल बनने की क्षमता अर्जित कर ले। दृढ सकल्प एव पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके पाव मजबूती से साधना पथ पर आगे वढते जाते हैं। उसका यह गमन जितना व्यवस्थित होगा, उतनी ही कुशलता से वह स्थूल परिधि मे से निकल कर सूक्ष्म परिधि मे प्रवेश कर सकेगा। इस सूक्ष्म परिधि मे उसकी गति की जितनी विशिष्टता होगी, उसी परिमाण मे वहॉ की जटिलताओ मे कमी आयेगी। कारण, जितनी विचित्र प्रकार की झझटे, अडचने और रुकावटे स्थूल परिधि मे विचरण करते हुए आती हैं, उतनी सूक्ष्म परिधि मे नहीं आती हैं। जो साधक स्थूल परिधि को पार करके सूक्ष्म परिधि मे आगे बढ जाता है, मानिये कि वह मोक्ष के राजमार्ग पर पहुँच जाता हे।

मोक्ष के राजमार्ग की अनुभूतियाँ अपूर्व आनन्द से भरी हुई होती हैं। इस मार्ग पर आगे बढते हुए साधक ऐसी विचारणाओ मे विचरण करने लग जाता है जो पूरी तरह सुलझी हुई होती हैं। अन्तर्वृत्तियो के उस सरोवर मे तब ऐसे ऐसे भाव–कमल विकसित होते हैं जिन्हे देखकर अन्तरात्मा अनुरजित हो उठती है। ये दृश्यावलियाँ बडी रगबिरगी होती हैं। इस सघनता मे यदि साधक यकायक स्तब्ध हो जाता है और अपने समीक्षण ध्यान को सुव्यवस्थित नही रख पाता है तो उस दिव्य प्रकाश की चमचमाहट में वह किकर्त्तव्यविमूढ बन जाता है। जिस प्रकार जगली जानवर भयकर जगल की झाडियो, पहाडियो, नदी–नालो तथा काटों भरे पथरीले रास्तों को अधेरी रात मे भी सामान्य प्रकार से पार कर लेते हैं किन्तु उनके सामने तेज रोशनी एकाएक फैल जाय तो वे चकरा जाते हैं और अपना रास्ता भूल जाते हैं। उसी प्रकार साधक यदि उस दिव्य प्रकाश में चक्कर खा जाय तो अपनी साधना से वह पतित हो सकता है। सूक्ष्म परिधि मे समीक्षण ध्यान की भी उतनी ही सूक्ष्मता अपेक्षित रहती है।

कई बार तो कई साधक उपर्युक्त स्थिति को ही सिद्धि मान लेते हैं और अपनी उस स्थिति का बाहर प्रदर्शन करने लग जाते हैं। वैसे साधक राजमार्ग पर पहुँच जाने के बावजूद बाह्य प्रदर्शन में सलग्न हो जाने के कारण उस सूक्ष्म परिधि से छिटक कर स्थूल परिधि मे पतित हो जाते हैं। ऐसे साधक तब नाना भाति की समस्याओं मे उलझ कर पुन वहाँ से आगे प्रस्थान नही कर पाते हैं। उन समस्याओ को सुलझाने की उनमे क्षमता रहते हुए भी वे अपने अहभाव से इस प्रकार आवृत्त बन जाते हैं कि प्रगति करने की उनकी जिज्ञासा दब जाती है एव उनके मन–मानस पर भ्रान्ति का कोहरा जम जाता है। वे यह समझ लेते हैं कि दुनिया मे एक उन्ही की साधना सिद्ध हुई है, अब किसी दूसरे से कुछ भी ज्ञान लेने की उन्हे आवश्यकता नही। उनका अहभाव उन्हे किसी के सामने झुकने नहीं देता, क्योकि कोई शका उत्पन्न होने पर भी वे उसका समाधान लेने मे अपने मानदड की हानि समझने लग जाते हैं। वे सोचते हैं कि अपनी शका का निवारण यदि किसी अन्य साधक से वे करवाने का यत्न करेगे तो दूसरे साधक उन की पूर्णता मे सन्देह करने लग जायेगे। ऐसी विडम्बना मे ग्रस्त होकर अहभाव के कारण ये साधक अपनी सम्पादित प्रगति पर पानी फेर देते हैं।

साधक के मन मे समाई वह अह वृत्ति उसकी दुर्बलता को न तो प्रकट होने देती है और न सुधरने का अवसर देती है। वह अह वृत्ति बाहरी दुनिया

मे यश लूटने के काम मे साधक को बुरी तरह से लगा देती है और उसमे यह भ्रम भरा हुआ रखती है कि वह अपनी परिपूर्णता का स्वामी बन चुका है। ऐसी अहवृत्ति के अधीन हो जाने वाला साधक अपने पवित्र साधना–क्षेत्र से स्खलित हो जाता हे और उसने जिन आत्मशक्तियो की तब तक उपलब्धि कर ली थी, वे आत्मशक्तियाँ भी उससे छिन जाती है। अहभाव से भर उठने के कारण साधक की साधना 'कातापींजा कपास' की तरह हो जाती है। इसलिये प्रत्येक बिदु पर साधक को अपार धैर्य धारण करके रहना चाहिये। फिर से पतित हो सकने वाली सीमा तक तो साधक अपूर्व धीरज के साथ दृढतापूर्वक चले ही–यह आवश्यक है। मोक्ष के राजमार्ग पर चलते हुए उस सीमा तक उसके पॉव डगमगावे नही, इस हेतु उसे अपने समीक्षण ध्यान की दृष्टि को तेजस्विता से ओतप्रोत रखनी चाहिये। वह रगबिरगे दृश्यो को भी निरन्तर तत्परता के साथ देखे किन्तु उनके पीछे आशक्त न बने, आगे से आगे बढते जाने का यत्न ही करता रहे। उसके इस प्रयत्न मे यदि निरतरता बनी रह जाय तो वह कभी न कभी अपने गतव्य तक पहुँच जायगा–ऐसी सुनिश्चित आशा बध जाती है।

इस सारे विश्लेषण का स्पष्ट आशय यह है कि साधक को अपनी साधना के किसी भी स्तर पर अहभाव से मडित नहीं होना चाहिये। अहभाव के उठते ही वह उसको विसर्जित करता हुआ आगे बढे। साधक के लिए अपनी साधना की सूक्ष्म परिधि मे प्रवेश करने से पहले यह आवश्यक है कि वह अपनी शक्ति तथा श्रद्धा, अपने धैर्य तथा सकल्प को अच्छी तरह दृढीभूत बना ले और समीक्षण ध्यान के सबल माध्यम से अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियो को एकाग्रता के अनुशासन मे सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर दे।

एकावधानता का प्रयोग

मनोनियत्रण के रूप मे की जाने वाली समीक्षण ध्यान की साधना यथार्थ रूप मे अन्तर्यात्रा की ही साधना है यह स्पष्ट हो चुका है। इस यात्रा मे अहभाव के विसर्जन के बाद जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह है एकाग्रता अथवा एकावधानता की शक्ति। जब तक एकावधानता का प्रयोग सफल नहीं बनता है, तब तक आत्मशक्तियो का सचय समव नहीं होता है। इसका यह अर्थ हे कि एकाग्रता अथवा एकावधानता की साधना भी समीक्षण ध्यान साधना की ही अगभूत है, जिसका प्रारभ भी विधिपूर्वक किया जा सकता हे।

एकावधानता कई प्रकारो अथवा कई विधियो द्वारा साधी जा सकती है। कोई किसी ध्वनि के माध्यम से किसी मत्र की एकावधानता साधते हैं तो कोई बिन्दु–दर्शन पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित बना कर एकावधानता का अभ्यास करते हैं। मत्र के माध्यम की दृष्टि से महामत्र 'णवकार मत्र' का सम्बल ग्रहण किया जा सकता है। इस महामत्र के प्रथम पद की ध्वनि के आधार पर एकावधानता की साधना के द्वारा अन्तर्प्रवेश के साथ वृत्तियो के केन्द्र को व्यवस्थित रूप से सक्रिय बनाया जा सकता है। शब्द–ध्वनि शब्द से सम्बन्धित तरगो को उद्वेलित करती है।

शब्द–ध्वनि की ये तरगे जिस दिशा मे प्रसारित होती है, उस दिशा की आसपास की ध्वनियॉ प्रकम्पित हो जाती हैं। इस प्रकार का ध्वनि–प्रकम्पन प्रत्येक स्थान पर होता है और इस प्रकम्पन को साधक अपना सहायक बना सकता है। ध्वनि के प्रकम्पन बाह्य आकाश मडल में यथायोग्य दूरी तक पहुँचते हैं और साधक के लिए इन प्रकम्पनो का सम्बल बहुत ही महत्त्व का होता है। एक भी ऐसा प्रकम्पन यदि प्रवाह बनकर आन्तरिक अवस्थान मे प्रवाहित हो जाय तो आन्तरिक स्थानो के अनेक केन्द्रो मे सुशुप्त बनी अनेक शक्तियो को जागृत बनाने का कार्य हो सकता है। इस जागृति के फलस्वरूप एकावधानता की शक्ति बलवती बनती है, एकावधानता के प्रयोग सफल होते हैं। तथा समीक्षण ध्यान की भूमिका का सार्थक निर्माण हो जाता है। इसलिये महामत्र के प्रथम पद की ध्वनि का प्रारम करते हुए पहले उच्च स्वर, फिर मध्यम स्वर तथा अन्त मे जघन्य स्वर मे उच्चारण किया जाना चाहिये। इस क्रम के बाद मानस स्वर व उसके अन्त मे भावप्रधान अर्थ स्वर की स्थिति मे ध्वनि परिणत हो जानी चाहिये। इससे भावोर्मियॉ अधिकाधिक क्रियाशील हो जाती हैं।

महामत्र की ध्वनि के आधार पर एकावधानता के प्रयोग के समय तार–स्वर का रूप इस प्रकार होना चाहिये–

'णमो अ रि ह ता ण।' इस प्रकार तार स्वर का उच्चारण कम से कम ग्यारह बार लयबद्ध गति से चलना चाहिये। प्रत्येक ध्वनि के प्रारम से लेकर ध्वनि समाप्ति तक उच्चारण एक सामान चलना चाहिये। इन ग्यारह तार स्वर के बाद ग्यारह मध्यम स्वर का उच्चारण होना चाहिये 'णमो अ रि ह ता ण'। एक समान स्वर की पद्धति गतिमान रहनी चाहिये। उपयोग की अवस्था भी मध्यम स्वर के प्रारम से लेकर अन्त तक अस्खलित रहनी चाहिये। उसके बाद धीमे और जघन्य स्वर मे 'णमो

अरिहताण' का ग्यारह बार पूर्वानुसार उच्चारण होना चाहिये। तदनन्तर ध्वनि का स्वर अपने कर्णगोचर न हो इस प्रकार मानस स्वर मे ही ग्यारह बार जाप किया जाय। मानस स्वर का अर्थ है कि मन मे ही प्रथम पद का उच्चारण हो, मन मे ही उसका जाप हो, मन ही उसका श्रवण करे तथा मन ही लयबद्ध रीति से उसके साथ तल्लीन बन जाय। यह मन के स्वर की गति अखडित रूप से चलनी चाहिये। फिर क्रम आयेगा अर्थ स्वर का। जिसमें भावप्रधान मत्र के अर्थ का भावो में ही उच्चारण किया जाय। इस अवस्था मे प्रथम पद का भाव ही साक्षी के रूप मे श्रवण करने मे आवे।

इन भावो के साथ मे उपयोग की अवस्था निरन्तर उपस्थित रहनी चाहिये। यह प्रक्रिया भी पहले की तरह ग्यारह की गिनती के साथ भावात्मक रूप से की जानी चाहिये। इस विधि से ध्वनियो मे तार स्वर की ध्वनि तरगे छ ओ दिशाओ मे न्यूनाधिक परिमाण मे प्रवाहित हो जाने के बावजूद बाह्य दिशाओ मे अधिकाश रूप मे प्रसृत हो जाती है। उसके कारण बाहर की ध्वनियॉ सक्रिय बन जायेगी। गौण रूप से यह ध्वनि भीतर के अवयवो को स्पर्श करेगी एव अन्य तत्रो को प्रकम्पित बनाती हुई आन्तरिक केन्द्रो तक पहुँच जायेगी। जबकि मद स्वर की ध्वनि बाहर और भीतर समान मात्रा मे प्रवाहित होगी, वहॉ जघन्य ध्वनि का सूक्ष्म प्रवाह प्रधान रूप से भीतर मे ही वहेगा। वाहर तो वह गौण रूप से ही रहेगा। मानस स्वर तो मन की धरातल वाली ग्रन्थि–तत्रो के क्रिया–केन्द्रो एव ज्ञान–केन्द्रो को प्रभावित करना प्रारम कर देगा। भाव ध्वनि का सूक्ष्मतम प्रकम्पन स्थूल केन्द्र के मानस तत्र की सूक्ष्म परिधि के समीप सूक्ष्म तथा बहुरगी केन्द्रो को प्रभावित करता हुआ, सूक्ष्म केन्द्र के अग्रिम मोर्चे तक पहुँचने की शक्ति अर्जित करने मे सक्षम बन जाता है। इस सूक्ष्म परिधि के सम्मुख जब–जब साधक किकर्त्तव्यविमूढता की स्थिति मे पहुँच जाता है जिसे एक दृष्टि से जडग्रस्त स्थिति मान सकते हैं, तब–तब उस जडता को भाव ध्वनि के माध्यम से निष्क्रिय बनाना शक्य हो सकता है।

भाव ध्वनि के इन प्रकम्पनो को जब भी वर्गीकृत करने का प्रश्न सामने आयेगा, तब उस वर्गीकरण मे समीक्षण ध्यान की महत्त्वपूर्ण गरिमा का अवश्य ही अनुभव होगा। इस विधि के द्वारा साधक सूक्ष्म परिधि के समीप मे रहने वाली विविध स्थितियों का निर्णय लेने मे समर्थ बन जाता है। यह प्रक्रिया इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से स्वरो की सहायता लेकर एकावधानता या एकाग्रता की स्थिति को साधक सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। इसके माध्यम से यदि साधक अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है

तो एकाग्रता से सम्बन्धित कई उपायो को वह सरल बना सकता है। कदाचित् इस विधि में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव हो तो एक अन्य विधि भी है—श्वास प्रक्रिया। सहज स्वाभाविक रूप से श्वास की गमनागमन की प्रक्रिया भी समीक्षण ध्यान को पुष्टि प्रदान कर सकती है। श्वास प्रक्रिया से समीक्षण ध्यान साधा जाय और उससे अन्तरावलोकन की स्थिति स्पष्ट बनाई जाय। वीतराग मुद्रा की स्थिति से साधक अपने मस्तिष्क के तनाव को समाप्त करके अवयवो का शिथिलीकरण कर ले और इस शिथिलीकरण के लिये यह श्वास प्रक्रिया का प्रयोग अधिक सुगम रहेगा क्योकि यह प्रयोग समस्त मानसिक स्थिति को नेत्रो के समीप लाकर मन्द उच्चारण मे 'जाने दो, जाने दो' के शब्द प्रतिध्वनित करेगा। तब तनाव मुक्ति भी होगी तो शिथिलीकरण की स्थिति भी उत्पन्न होगी।

शिथिलीकरण के अभ्यास को साध लेने के बाद उपयोगपूर्वक श्वास की गति का समीक्षण ध्यान के माध्यम से निरीक्षण करना आरम्भ कर देना चाहिये। इसमे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि श्वास का आना और जाना नासिका के किस रध्र (छेद) मे से हो रहा है ? दाहिने रध्र मे से या बाए रंध्र मे से ? यदि दाहिने रध्र मे से श्वास का आवागमन हो रहा हो तो समझना चाहिये कि पिगला नाडी सक्रिय हो रही है। यदि श्वास की गति बाए रध्र मे से आती—जाती मालूम पडे तो उस अवस्था मे यह माना जायेगा कि इडा नाडी गतिशील है। स्वर विज्ञो ने बाए रध्र से आने—जाने वाले स्वर को चन्द्र स्वर कहा है तो दाए रध्र वाले स्वर का नाम सूर्यस्वर बताया है। ये नाम स्वरशास्त्रज्ञाताओ के अपने पारिभाषिक शब्द हैं किन्तु योग साधना की दृष्टि से भी इन दोनो स्वरो का एकावधानता या एकाग्रता साधने मे बडा महत्त्व माना गया है। इनसे एकाग्रता के केन्द्र रूप समता के धरातल का ज्ञान भी किया जा सकता हे। जब तक एक—एक स्वर चालू रहता है तब तक वह अवस्था राग और द्वेष की विद्यमानता का सूचन करती है। वह स्वर समता का सूचक नही होता है। दाया स्वर राग की तो बाया स्वर द्वेष की गति का प्रतिनिधित्व करता है। जब दोनो स्वरो की गति समान रूप की अवस्था में परिलक्षित होने लगे तब वह अवस्था सुषुम्ना नाडी के स्वर को सक्रिय बनाने की स्थिति मे आ जाती है। यह अवस्था रात और दिन की परिणति से ऊपर उठकर समता की भूमिका का निर्माण करने मे सहायक बन सकती हे।

सुषुम्ना के सक्रिय हो जाने के बाद दोनो स्वरो की गति शान्त और विरल बन जाती है। क्योकि सुषुम्ना का सम्बन्ध शीर्ष तथा पूरे नाडी तन्त्र के

अरिहताण का ग्यारह बार पूर्वानुसार उच्चारण होना चाहिये। तदनन्तर ध्वनि का स्वर अपने कर्णगोचर न हो इस प्रकार मानस स्वर मे ही ग्यारह बार जाप किया जाय। मानस स्वर का अर्थ है कि मन मे ही प्रथम पद का उच्चारण हो, मन मे ही उसका जाप हो, मन ही उसका श्रवण करे तथा मन ही लयबद्ध रीति से उसके साथ तल्लीन बन जाय। यह मन के स्वर की गति अखडित रूप से चलनी चाहिये। फिर क्रम आयेगा अर्थ स्वर का। जिसमे भावप्रधान मत्र के अर्थ का भावो मे ही उच्चारण किया जाय। इस अवस्था मे प्रथम पद का भाव ही साक्षी के रूप मे श्रवण करने मे आवे।

इन भावो के साथ मे उपयोग की अवस्था निरन्तर उपस्थित रहनी चाहिये। यह प्रक्रिया भी पहले की तरह ग्यारह की गिनती के साथ भावात्मक रूप से की जानी चाहिये। इस विधि से ध्वनियो मे तार स्वर की ध्वनि तरगे छ ओ दिशाओ मे न्यूनाधिक परिमाण मे प्रवाहित हो जाने के बावजूद बाह्य दिशाओ मे अधिकाश रूप मे प्रसृत हो जाती है। उसके कारण बाहर की ध्वनियॉ सक्रिय बन जायेगी। गौण रूप से यह ध्वनि भीतर के अवयवो को स्पर्श करेगी एव अन्य तत्रो को प्रकम्पित बनाती हुई आन्तरिक केन्द्रो तक पहुॅच जायेगी। जबकि मद स्वर की ध्वनि बाहर और भीतर समान मात्रा मे प्रवाहित होगी, वहॉ जघन्य ध्वनि का सूक्ष्म प्रवाह प्रधान रूप से भीतर मे ही बहेगा। बाहर तो वह गौण रूप से ही रहेगा। मानस स्वर तो मन की धरातल वाली ग्रन्थि–तत्रो के क्रिया–केन्द्रो एव ज्ञान–केन्द्रो को प्रभावित करना प्रारम कर देगा। भाव ध्वनि का सूक्ष्मतम प्रकम्पन स्थूल केन्द्र के मानस तत्र की सूक्ष्म परिधि के समीप सूक्ष्म तथा बहुरगी केन्द्रो को प्रभावित करता हुआ, सूक्ष्म केन्द्र के अग्रिम मोर्चे तक पहुॅचने की शक्ति अर्जित करने मे सक्षम बन जाता है। इस सूक्ष्म परिधि के सम्मुख जब–जब साधक किकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पहुॅच जाता है जिसे एक दृष्टि से जडग्रस्त स्थिति मान सकते हैं, तब–तब उस जडता को भाव ध्वनि के माध्यम से निष्क्रिय बनाना शक्य हो सकता है।

भाव ध्वनि के इन प्रकम्पनो को जब भी वर्गीकृत करने का प्रश्न सामने आयेगा, तब उस वर्गीकरण मे समीक्षण ध्यान की महत्त्वपूर्ण गरिमा का अवश्य ही अनुभव होगा। इस विधि के द्वारा साधक सूक्ष्म परिधि के समीप मे रहने वाली विविध स्थितियो का निर्णय लेने मे समर्थ बन जाता है। यह प्रक्रिया इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से स्वरो की सहायता लेकर एकावधानता या एकाग्रता की स्थिति को साधक सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। इसके माध्यम से यदि साधक अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है

तो एकाग्रता से सम्बन्धित कई उपायो को वह सरल बना सकता है। कदाचित् इस विधि मे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव हो तो एक अन्य विधि भी है—श्वास प्रक्रिया। सहज स्वाभाविक रूप से श्वास की गमनागमन की प्रक्रिया भी समीक्षण ध्यान को पुष्टि प्रदान कर सकती हे। श्वास प्रक्रिया से समीक्षण ध्यान साधा जाय और उससे अन्तरावलोकन की स्थिति स्पष्ट बनाई जाय। वीतराग मुद्रा की स्थिति से साधक अपने मस्तिष्क के तनाव को समाप्त करके अवयवों का शिथिलीकरण कर ले और इस शिथिलीकरण के लिये यह श्वास प्रक्रिया का प्रयोग अधिक सुगम रहेगा क्योकि यह प्रयोग समस्त मानसिक स्थिति को नेत्रो के समीप लाकर मन्द उच्चारण मे 'जाने दो, जाने दो' के शब्द प्रतिध्वनित करेगा। तब तनाव मुक्ति भी होगी तो शिथिलीकरण की स्थिति भी उत्पन्न होगी।

शिथिलीकरण के अभ्यास को साध लेने के बाद उपयोगपूर्वक श्वास की गति का समीक्षण ध्यान के माध्यम से निरीक्षण करना आरम कर देना चाहिये। इसमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि श्वास का आना और जाना नासिका के किस रध्र (छेद) मे से हो रहा है ? दाहिने रध्र मे से या बाए रंध्र मे से ? यदि दाहिने रध्र मे से श्वास का आवागमन हो रहा हो तो समझना चाहिये कि पिगला नाडी सक्रिय हो रही है। यदि श्वास की गति बाए रध्र मे से आती—जाती मालूम पडे तो उस अवस्था मे यह माना जायेगा कि इडा नाडी गतिशील है। स्वर विज्ञो ने बाए रध्र से आने—जाने वाले स्वर को चन्द्र स्वर कहा है तो दाए रध्र वाले स्वर का नाम सूर्यस्वर बताया है। ये नाम स्वरशास्त्रज्ञाताओ के अपने पारिभाषिक शब्द हैं किन्तु योग साधना की दृष्टि से भी इन दोनो स्वरो का एकावधानता या एकाग्रता साधने मे बडा महत्त्व माना गया है। इनसे एकाग्रता के केन्द्र रूप समता के धरातल का ज्ञान भी किया जा सकता है। जब तक एक—एक स्वर चालू रहता है तब तक वह अवस्था राग ओर द्वेष की विद्यमानता का सूचन करती है। वह स्वर समता का सूचक नहीं होता है। दाया स्वर राग की तो बाया स्वर द्वेष की गति का प्रतिनिधित्व करता है। जब दोनो स्वरो की गति समान रूप की अवस्था मे परिलक्षित होने लगे तब वह अवस्था सुषुम्ना नाडी के स्वर को सक्रिय बनाने की स्थिति में आ जाती है। यह अवस्था रात और दिन की परिणति से ऊपर उठकर समता की भूमिका का निर्माण करने मे सहायक बन सकती है।

सुषुम्ना के सक्रिय हो जाने के बाद दोनो स्वरो की गति शान्त और विरल बन जाती है। क्योकि सुषुम्ना का सम्बन्ध शीर्ष तथा पूरे नाडी तत्र के

साथ होने के कारण शक्ति केन्द्र, आनन्द केन्द्र, शुद्धि केन्द्र और ज्ञान केन्द्र सचालित करने की योग्यता साधक को प्राप्त हो जाती है। इन केन्द्रो के साथ सम्बन्ध रखने वाली ग्रन्थियॉ भी तब सुन्दर रीति से रसो का परिष्यदन करेगी ओर उसी प्रकार केन्द्रो मे रहे हुए रगो के साथ स्थान की एकाग्रता, श्वास की स्तब्धता तथा मत्र की भावात्मक शक्ति का सयोग आन्तरिक शक्तियो के आलोक को उद्‌भासित कर देता हे। इस प्रकार एकावधानता के प्रयोग एव प्राप्ति की ये विधियॉ वर्णित की गई हैं, जिन के माध्यम से साधक अपनी विश्रृखलित चित्तवृत्तियो को नियोजित करके समानस्वरता प्रदान कर सकता है। यह समानस्वरता अथवा समरसता समीक्षण ध्यान की पूर्व भूमिका का रूप लेती है।

समीक्षण शरीर तत्र का

यह दृश्य शरीर भी साधक की साधना के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवस्थान हे। इस दृश्य शरीर की भी आन्तरिक सरचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह जीवन दृश्य शरीर की सीमा तक ही सीमित नही हे। दृश्य शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर हे तथा उससे भी आगे सूक्ष्मतम शरीर है। कम से कम ये तीन शरीर तो जीवन की वर्तमान उपलब्धि के रूप मे विद्यमान हैं ही। इन तीनो शरीरो की आन्तरिक व्यवस्था एक–दूसरे से सम्बन्धित है। सधि स्थान के रूप मे प्रत्येक शरीर की अपनी–अपनी सीमा मे कार्य परिणति समुचित रूप से सचालित रहती हे। साधक जब तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर मे आवृत्त सच्चिदानन्द का साक्षात्कार नही करता है, तब तक उसके आत्म विकास की महायात्रा गतिमान रहती है।

यदि कोई व्यक्ति किसी दुर्ग में प्रवेश करना चाहता है तो पहले उसे उस दुर्ग की दीवारो, कोटो, कगूरों तथा उसकी आन्तरिक सरचना की स्थिति को जान लेना जरूरी है। उस जानकारी के साथ उसकी निरीक्षण शक्ति भी प्रखर होनी चाहिये। तभी वह उस दुर्ग मे प्रवेश करके अभिवाछित स्थान तक पहुॅच सकता है। साधना के क्षेत्र मे प्रवेश करने से पूर्व इसी प्रकार साधक को भी शरीर तत्र का समुच्चय ज्ञान कर लेना चाहिये। अगर कोई साधक इस तथ्य की उपेक्षा करता हे तो वह दुर्ग मे छिपे हुए खजाने का अता–पता कभी भी नहीं पा सकेगा। अपने आत्मस्वरूप मे ज्ञान और सुख का जो खजाना छिपा हुआ है, उस तक अपनी पहुॅच करने के लिए पहले शरीर तत्र रूपी दुर्ग की सब प्रकार की जानकारी करना तथा निरीक्षण शक्ति को सुघड बना लेना जरूरी है। इसके बिना कोई साधक अपने भीतर रहे हुए आनन्द–कोष का

उद्घाटन नही कर सकेगा।

शरीर भी धर्माराधना का अनिवार्य साधन हे। आध्यात्मिक दृष्टि से पहले ही कोई साधक यह मान ले कि इस शरीर के साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है। शरीर विधानो के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओ, विधि अथवा व्यवस्थाओ से मेरा कुछ भी लेना देना नही है तो वह साधक भूल करता है। शरीर–तत्र के सम्यक् अनुसधान तथा नियोजन के बाद ही वह आध्यात्मिक क्षेत्र मे कर सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस शरीर तत्र के सबल माध्यम को सासारिक काम भोगो मे न लगाकर धर्मसाधना के क्षेत्र मे समभावपूर्वक नियोजित किया जाय। इस पुरुषार्थ का यह श्रेष्ठ फल साधक के समक्ष आ सकता है कि उसे अपने आत्म–स्वरूप मे रहे हुए सच्चिदानन्द का साक्षात्कार हो जाय।

आध्यात्मिक धरातल पर साधना कर रहे साधक के लिए सच्चिदानन्द के साक्षात्कार रूपी लक्ष्यगत आस्था तो समुचित है किन्तु इस लक्ष्य की अभीष्ट सिद्धि हेतु किन–किन अवस्थाओ के साथ किन–किन मार्गो का अनुसरण करके किस प्रकार के तत्त्वावलोकन द्वारा किन–किन शक्तियों का निर्धारण करने से अन्तरात्मा मे आछन्न निधि अभिव्यक्त की जा सकेगी–उसका पूर्व ज्ञान अनिवार्य होता है। इस ज्ञान के अभाव मे हजारो या लाखो वर्ष तक तो क्या अनन्तान्त काल तक ससार का परिभ्रमण करते रहने पर भी लक्ष्य की प्राप्ति असभव ही बनी रहेगी। पुरुषार्थ भी भले किया जाता रहे किन्तु वास्तविक गतव्य स्थान तक पहुँचना नहीं हो सकेगा। यह तथ्ययुक्त वस्तुस्वरूप का सत्य कथन वीतराग देवो ने किया है।

परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधक को लक्ष्य के आन्तरिक आयामो, अवस्थाओ ओर उनसे सम्बन्धित तत्रो आदि का पूर्वावलोकन कर लेना चाहिये। यह अवलोकन भी समीक्षण ध्यान की धुरी पर ही सभव होगा। यद्यपि इस वर्तमान युग मे शरीर–चिकित्सा–शास्त्रियो ने शरीर के विभिन्न अगोपागो के बारे मे काफी नई जानकारियॉ हासिल की हैं, फिर भी शरीर मे निवास करने वाली आत्मा के सम्बन्ध मे कुछ भी जान पाना तो दूर अभी तक वे शरीर–तत्र की अति सूक्ष्म प्रक्रियाओ को भी नहीं पहचान पाये हें। आत्मा के सम्बन्ध मे वे कुछ भी नही जान पाये हैं, यह तो ठीक–किन्तु वे आत्म–ज्ञान के प्रति आवश्यक आस्था भी नहीं बना पाये हें। अत उनकी शरीर सम्बन्धी जानकारियॉ भी अपूर्ण ही कहलायेगी, क्योकि शरीर–तत्र की सम्यक् जानकारी के साथ ही आत्मतत्र के ज्ञान की दिशा मे आगे बढा जा

सकता है। उनकी इस आस्था की अभावस्थिति के पीछे कई कारण हैं किन्तु मुख्य कारण है अर्थ–दृष्टि की प्रधानता। आज. का मानव अर्थ–दृष्टि को सर्वोपरि मानता है तथा अर्थ की उपलब्धि के लिये अन्यान्य साधनो के साथ शरीर के स्थूल विज्ञान को मानकर ही सन्तोष कर लेता है। येन–केन–प्रकारेण मेडिकल परीक्षाओ को उत्तीर्ण करके ही अपने शरीर सम्बन्धी स्थूल ज्ञान को लेकर वह अर्थोपार्जन मे तन्मय हो जाता है। इस कारण शरीर तत्र के सूक्ष्मतम अवयवो की आन्तरिक परिधि मे क्या–क्या रहस्य समाये हुए हैं इस दिशा मे उसकी चिन्तन शक्ति आगे नहीं बढ पाती है। वह इस दिशा मे जिज्ञासु भी नही बनता है।

परन्तु जो शरीर विज्ञान के ज्ञाता स्थूल विज्ञान तक ही सीमित न रह कर इस तत्र की सूक्ष्मता मे प्रवेश करते हैं वे उसकी व्यापक शोध मे लगे हुए हें। उन्होने किन्हीं नवीन रहस्यो का ज्ञान भी किया है। कई वैज्ञानिक मनोविज्ञान को शरीर विज्ञान से जोडकर कई प्रकार की ग्रथियों की खोज भी कर पाये हैं, जो सूक्ष्म तत्र की जानकारी लेने के काम मे बडी महत्त्वपूर्ण हैं। ये ग्रथियॉ प्रणालीयुक्त रसवाहिनी भी हैं ओर प्रणालीविहीन अन्त स्रावो को स्थूल शरीर मे पहुॅचाने वाली भी हैं। यह हर्ष का विषय है कि इन नवीन शोधो से ही वे वेज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हो गये हें किन्तु अपने अनुसधानो को आगे बढा रहे हैं।

आध्यात्मिक विज्ञान के विज्ञाता साधक इस क्षेत्र मे निश्चय ही आगे बढे हुए हें। इन साधको में कई तो अनुकरणशील प्रवृत्ति के ही होते हैं और विरले साधक अपनी अनुकरणशीलता का नूतन सशोधनो के साथ अपना सामजस्य बिठाते हैं। वस्तुत आध्यात्मिक कोष की उपलब्धि के इच्छुक साधक तो अपना स्थिर प्राप्य विषय सच्चिदानन्द को ही मानते हैं। यह सच्चिदानन्द स्वरूप जिन आवरणों के पीछे छुपा हुआ है, उन आवरणो के अन्दर प्रवेश कराने वाले द्वारो की खोज मे वे यत्नशील बनते हैं। स्थूल शरीर के वर्तुल मे ऐसे अनेक प्रवेश द्वार हैं जिनमे सर्वाधिक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण प्रवेश द्वार श्वास प्रणाली (प्राणायाम) का है। इस श्वास प्रणाली के वाहन पर यदि साधक एक बार सफलतापूर्वक आरूढ हो जाता है तो वह उस वाहन की सारी गतिविधि से भी परिचित हो जाता है। उस वाहन से वह आन्तरिक वाहन का अवलबन प्राप्त करके विराट आन्तरिक मार्ग पर शक्ति के साथ चल पडता है।

श्वास समीक्षा

ऐसा साधक भीतर मे रहने वाले पाच प्रकार के वायु सस्थान तथा उनकी समीपता से प्राणवायु का मूल्याकन कर लेता है। इसी मूल्याकन की सहायता से वह प्राणशक्ति की पहिचान कर सकता है। प्राणशक्ति के समीप पहुँच जाने पर सूक्ष्म परिधि के सान्निध्य मे रहने वाली बहुरगी शक्तियो को पहिचान पाने का सामर्थ्य उसमे जाग उठता है। उनकी पहिचान के बाद साधक का आगे का मार्ग आसान हो जाता है।

श्वास की अधिकाश गतिविधि नासिका के माध्यम से सचालित होती है। इसे विज्ञान के क्षेत्र मे ऑक्सीजन (प्राणवायु) कहते हैं। यह ऑक्सीजन वनस्पति आदि तत्त्वो मे से बहुलता से प्राप्त होती है। यह ऑक्सीजन जब फेफडो मे पहुँचती है तो वहाँ रक्त–शुद्धि का कार्य करती है। यह शरीर मे रहे हुए अशुद्ध तत्त्वो को बाहर निकाल देती है। शरीर विज्ञान के वैज्ञानिक अपने ज्ञान की सीमा इस ऑक्सीजन तक ही सामान्य रूप से मानते हैं। परन्तु योग पद्धति आदि की दृष्टि से इस विषय का चिन्तन बहुत गहराई तक पहुचा हुआ है।

श्वास द्वारा सगृहीत प्राणवायु रक्तशुद्धि के साथ–साथ रक्त सचरण मे भी समाविष्ट हो जाती है जिसके कारण प्राणवायु का फैलाव शरीर के छोटे से छोटे याने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवो से लेकर स्थूल से स्थूल अवयवो तक हो जाता है। इस रक्त सचार मे प्राणवायु का जितनी अधिक मात्रा मे प्रभाव पडेगा, उतने ही प्रभाव से प्राणवायु शरीर के आन्तरिक सस्थानो मे मुख्य सचालन की वाहिका बन जायेगी। इस प्राणवायु के उपरात इसी अवस्थान के अन्तर्गत समान वायु भी मिल जाती है। यह समान वायु समान रूप से यथायोग्य यथा–स्थान पर शरीर की आवश्यकताओ की सम्पूर्ति मे सहायक बनती है। आन्तरिक सस्थानो की हलनचलन और प्रकम्पन आदि अवस्थाओ के फलस्वरूप अन्य वायुओ का निर्माण भी हो जाता है। इन्हीं वायुओ मे से जिस वायु का प्रवाह ऊर्ध्व दिशा मे जाता है, उसे 'ऊर्ध्ववायु' के नाम से पहिचानते हैं। दूसरी कई वायु शरीर के अधोभाग की तरफ बहती हें, उन्हे 'अधोवायु' कहते हैं। ऊर्ध्व और अधोवायु की दिशाओ से अलग विभिन्न दिशाओ मे भी शरीर के अवयवो से उत्पन्न होने वाली वायु को 'व्यानवायु' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार योग पद्धति के अनुसार पाच प्रकार की वायु शरीर के आन्तरिक अवयवो मे व्याप्त होकर फैली हुई रहती हैं।

शरीर मे जहाँ कही वेदना का अनुभव होता है, उसका अधिकाश भाग वायु वेग के अवरूद्ध हो जाने के कारण ही होता है। इस अवरोध का मुख्य कारण व्यक्ति के बाह्य जीवन मे व्यवस्थित क्रिया–कलाप का अभाव होता हे। इस वायु सस्थान तथा उसके विभिन्न विभागो को व्यवस्थित रीति से सचालित करने के ज्ञान का अभाव भी इसका कारण है। सही ज्ञान नहीं होने से वायुओं का व्यवस्था–तत्र बिगड जाता है। इतना ही नहीं, कई बार तो व्यवस्था–तत्र ऐसा अस्त–व्यस्त हो जाता है कि उसकी विकृति के कुप्रभाव से समग्र शरीर का ढाचा ही नहीं, समग्र जीवन की नोका ही डोलायमान हो जाती है। इस दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि मनुष्य भी अन्य प्राणियो के समान यत्रवत् ही उत्पन्न होता है तथा यत्रवत् ही अपना जीवन गुजारता है। वह अपने बाहरी अवयवो को तो श्रृगार करता फिरता है–बाहरी अवयवों को सुन्दर बनाने के लिए अथवा उनकी सुन्दरता को बनाये रखने के लिए अपनी शक्ति का व्यय करता है, परन्तु इस शरीर के बाहरी अवयवो की सुन्दरता विशेषत आन्तरिक वायु सस्थान की व्यवस्था आदि प्रक्रियाओ पर निर्भर करती है– यह वह नहीं जानता।

मनुष्य अपने जिन अगोपागो पर अपनी सुन्दरता का अनुभव करता है ओर जिनकी साज सज्जा के लिए अपनी पूरी जिन्दगी तक बिता देता है, बल्कि ऐसा करते हुए अपने को सुन्दर मानने के अभिमान मे फूला नहीं समाता है, वही मनुष्य अपने भीतरी सस्थान को तथा उनकी सूक्ष्म प्रक्रियाओं को नहीं समझता। इन्ही अगोपागो के भीतरी सस्थान मे प्रवाहित होती हुई वायु जब प्रकुपित हो जाती है और उसका प्रकोप असाध्य बन जाता है तब यह बाहर दिखाई देने वाली सुन्दरता बहुत जल्दी बदसूरती मे बदल जाती है। यह विषय प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुभवगम्य हो सकता है किन्तु तभी जब वह आन्तरिक व्यवस्था की ओर अपना ध्यान लगावे।

मनुष्य तो ऊपरी रूप रग को सजाने के साथ–साथ पुष्ट ओर अधिक सुन्दर बनने की लालसा में अधिकाधिक पौष्टिक पदार्थो को भी उदरस्थ करता जाता है–यह सोचे बगैर कि अपनी लालची रसना के अधीन होकर वह जो पौष्टिक व स्वादिष्ट पदार्थो को वेमाप उदरस्थ करता जा रहा है, क्या वह उन पदार्थो को ठीक से पचा भी सकेगा ? विचित्र दशा ऐसी देखी जाती है कि पहले के खाये हुए पदार्थ तो पचते ही नहीं और उससे पूर्व ही वह अन्य स्वादिष्ट पदार्थ खाना शुरू कर देता है। परिणाम यह होता है कि पाचन तत्र अव्यवस्थित हो जाता है और उस परिस्थिति में वायुवाहक नाडियॉ वायु के

वेग को बढाने के लिए अधिक सक्रिय होने की चेष्टा करती है। किन्तु क्षमता से अधिक भार पडने के कारण इस तीव्र चेष्टा से वे शीघ्र ही क्लात हो जाती हैं। इस प्रकार वायु का सन्तुलन बिगड जाता है। पेट मे पडे पदार्थ सडने लगते हैं और सडे हुए अन्न की दुर्गंध से समग्र वायुसस्थान दूषण से व्याप्त हो जाते हैं। यह दूषित वायु जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए अहितकर सिद्ध होती है। शरीर मे इसके कारण बेचैनी बढती जाती है। उस दशा मे योग साधना की बात तो छोडिये सामान्य व्यावहारिक कार्यों को करने की भी शक्ति नही रहती है। फिर वह डॉक्टर वैद्यो के पास जाता है। आज सही ईलाज करने वाले डॉक्टर वैद्य मुश्किल से ही मिलते हैं। अधिकाश डाक्टर, वैद्य अर्थोपार्जन मे ही रचे-पचे होते हैं। अत वे तेज दवाओ का प्रयोग करते हैं। फलस्वरूप रोगी के सवेदनशील ज्ञान ततु क्षत विक्षित होकर इस तरह शून्यता पकडने लगते हैं कि तब दु ख की सवेदना भी सही तरीके से नहीं होती है। वेदना मे कुछ कमी को महसूस करने से रोगी भ्रम मे पड जाता है। वह सोचता है कि उसकी वेदना इन दवाओ से ही कम हुई है।

वास्तव मे होता यह है कि आरोग्य आवे उससे पहले ही शरीर मे कई प्रकार की विकृतियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं। कई बार तो ऐसी दवाओ के अतिरेक से व्यक्ति की जीवन शक्ति का ही धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है।

यदि गभीरतापूर्वक सोचे तो वर्तमान जीवन मे प्राप्त यह सुखद जीवन शक्ति कितनी अमूल्य है जो अनुभव से भी अपूर्व है। फिर इसी जीवन शक्ति को जब आध्यात्मिक साधना एव योग विषयक उपलब्धियो के साथ जोड देते हैं तो कितनी अननुभूत सुख शान्ति के समीप पहुँच सकते हैं ? वास्तविक जीवन-विज्ञान के अभाव मे ही मनुष्य ऐसी दुर्व्यवस्था का शिकार हो जाता है जिसका सम्यक् समाधान योग पद्धति के माध्यम से भव्य रीतिपूर्वक किया जा सकता है। परन्तु यह कब किया जायगा ? जब इस जीवन मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्वो का मूल्याकन किया जायगा एव सहायक तत्त्वो की प्रणाली तथा उससे सम्बन्धित जातीय-विजातीय स्वरूपो को विधिवत् विशुद्ध किया जायगा, तभी मनुष्य इस बात से सावधान हो सकेगा कि वह अशुद्धिकारक तत्त्वो को अपने शरीर तन्त्र के भीतर प्रविष्ट न होने दे। एक बार बिगडी हुई कार्य प्रणाली को तभी व्यवस्थित कर सकते हैं जब कडी भूख लगने पर ही भोजन किया जाय अथवा आवश्यक लगे तो उपवास व्रत-पूर्वक अधिकाधिक प्राणवायु को ग्रहण करे ताकि सम्पूर्ण वायुसंस्थान पुन सुव्यवस्थित बन सके।

अपने सम्पूर्ण सुप्रभाव के साथ जब प्राणवायु प्रत्येक अग–प्रत्यग मे पहुँच जाती हे तब उसका जीवन के महत्त्वपूर्ण अग प्राणो के साथ सम्पर्क होता हे। यह सम्पर्क साधक को सूक्ष्म परिधि के समीप पहुचने मे सहायक बनाता है। तब साधक को सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम अवस्थानो एव उनके अन्तर्गत बनी ग्रथियो को समझने व सुलझाने का सुअवसर मिल जाता है। यही नहीं, अन्ततोगत्वा उसे सच्चिदानन्द के समीप पहुँच जाने का सुअवसर भी मिल सकता है।

तात्पर्य यह कि शरीर के समस्त अवयवों की अपेक्षा भी श्वास–प्रश्वास सम्बन्धी प्रक्रियाएँ अधिक महत्त्व रखती हैं। इनकी सहायक क्रियाओ का भी बडा महत्त्व होता है। अत साधक श्वास प्रणालिका को सर्वाधिक महत्त्व दे तथा उसका समुचित मूल्याकन करे। इसके पश्चात् ही वह अपने पुरुषार्थ को सार्थक रूप से क्रियाशील बना सकेगा।

श्वासानुसधान

श्वास–प्रश्वास एक प्रकार से आन्तरिक क्रियातत्र के सकेत चिन्ह (काटामापक यत्र) हे। जैसे पेट्रोल की टकी पर लगे काटे से उसके भीतर रही हुई मात्रा का सकेत मिल जाता है, उसी प्रकार जीवन सम्बन्धी समस्त क्रियाकाडो का सकेत श्वास की गतिविधि से जाना जा सकता है। एक दृष्टि से भीतर के क्रियाकाड एक विशाल कारखाने की मशीनों और उनके कार्य के समान हैं। उस विशाल कारखाने की बडी–बडी मशीनो के बीच मे अगर छोटे से छोटे तार मे भी कहीं अवरोध पैदा हो जाय तो सारी मशीनरी पर उसका असर पडता है। उसी प्रकार इस शरीर तत्र के भीतर होने वाली स्थूल अथवा सूक्ष्म क्रिया–प्रक्रियाओ के बीच मे यदि किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म नाडी तत्र की क्रिया मे भी अवरोध पैदा हो जाय तो उस रुकावट का समग्र शरीर विषयक क्रियाकलाप पर बुरा असर पडता है। इस असर की सूचना श्वास प्रणालिका से मिल सकती है। इस कारण इस प्रणालिका–विज्ञान का वहुत गहराई से अध्ययन अवश्यक है। इससे अवरोध के कारणो की, भलीभांति जानकारी हो सकेगी, बल्कि उन कारणो को दूर करने, तन्त्र को पुन सुव्यवस्थित वनाने की प्रेरणा भी पैदा होगी।

श्वास प्रणालिका के माध्यम से, जिस प्रकार शरीर तन्त्र के भीतर चलने वाले क्रियाकलापो का प्रभाव जाना जा सकता है, उसी प्रकार मानसतन्त्र सम्बन्धी भावोर्मियो का प्रभाव भी श्वास की गति से अभिव्यक्त होता है। कोई व्यक्ति अपने ज्ञान केन्द्र किस भाव के साथ अपने क्रिया के

माध्यम से, मानसतन्त्र को झकृत करता हुआ, शरीर के क्रियाकलापो को प्रभावित बना रहा हे, यह विज्ञान भी श्वास–विज्ञान की परिधि मे आ जाता है।

शरीर के आन्तरिक अवस्थानो पर, बाहर से ग्रहण किये गये, अपाच्य पदार्थो का ही नही, मलिन विचारो का भी दुष्प्रभाव पडता है। समझिये कि ज्योही मलिन भावो ने, सर्वतन्त्रो पर अपना प्रभाव छोडा, त्योही भीतर मे एक अचकचाहट–सी फैल जाती है। उस समय मे श्वास विधिज्ञ–साधक, उन भावो के प्रभाव को तत्क्षण निष्फल बनाने की अपनी कला का, यदि प्रयोग करे तो इन भावो के प्रमाव को नासिका के माध्यम से वापस बाहर फेंक सकता हे। उन मलिन भावो के प्रभाव के स्थान पर तब वह शुभ भावो के प्रभाव को व्याप्त बना सकता है। जैसे पप (नल या टूटी) की सहायता से टकी मे भरे गदे पानी को बाहर फैंक कर भीतर साफ पानी भरा जा सकता है, उसी प्रकार यह नासिका पप का काम करती हे। इस एकदेशीय रूपक को समझ कर यदि साधक मलिन भावो को श्वासनली से बाहर निकालता रहे और निर्मल भावो को भीतर ग्रहण करता रहे तो उसकी साधना दिन–प्रतिदिन फलवती बनती जाती है। एक दिन वह लक्ष्य के समीप भी पहुच सकता हे। एक दृष्टात से इसे समझिये। जिस समय साधक के भीतर मे क्रोध का मलिन भाव उठे तो उस समय वह उस भाव को वाणी अथवा शरीर के अन्य अवयवो से बाहर प्रकट न होने दे, अपितु श्वासविधि के माध्यम से शान्त–प्रशान्त श्वास वर्गणाओ के स्कधों को भीतर खीचे। जितने स्कधो को खींच सके, उन्हे वह खींचे तथा दो सेकिड का श्वास का आन्तरिक कुमक करे और बाद मे लयबद्ध आन्तरिक श्वास को बाहर फैंकने की चेष्टा करे। ऐसी प्रक्रिया कुछ समय तक करते रहने पर क्रोध का प्रभाव सफल न होकर निष्फल बाहर निकल जायगा। शान्त वर्गणा से सम्बन्धित श्वास वर्गणा का बारी–बारी से भीतर प्रवेश होने के कारण कषाय–क्रोध विषयक दुर्गंध समाप्त हो जायगी। यही प्रक्रिया काम–विकार अथवा अन्य प्रकार के विकारो को बाहर निकालने मे सक्षम बनती है।

शरीर मे विकृत पदार्थो की अथवा मलिन भावो की भारी गदगी भरी रहती है, यदि साधक सम्यक् रीति से श्वासानुसधान करे और उससे सम्बन्धित प्रक्रियाओ का विवेक सहित उपयोग करे तो शरीर मे फैल रही इस गदगी को दूर की जा सकती है तथा वहॉ शुद्धता का सचार किया जा सकता है। काम, क्रोध आदि की गदगी के बीच मे कई बार निमित्त–नैमेत्तिक सम्बन्ध,

कार्य–कारण सम्बन्ध आदि भी नजर मे आते हैं। आन्तरिक क्रियाकलापो के अस्त व्यस्त हो जाने से भीतर मे दुर्गंध व्याप्त हो जाती है। इस दुर्गंध का प्रभाव नियत्रण केन्द्र पर पडता है ओर ज्यो ही नियत्रण केन्द्र शिथिल हो जाता है त्यो ही काम क्रोध का दुष्प्रभाव प्रकट होने लग जाता है। इससे पहले से व्याप्त दुर्गंध ओर अधिक गहरी हो जाती है।

यदि यही क्रम दीर्घकाल तक इसी प्रकार चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनो प्रकार की गदगियो से भर उठता है, और सडाध मारने लगता हे। इन दोनो प्रकार की गदगियो की सघनता केवल श्वास–तत्र को प्रभावित बना कर ही समाप्त नही हो जाती है, बल्कि अन्य तत्रो पर भी अपना दुष्प्रभाव छोडती हे। इससे तपस्तत्र पर भी बुरा असर पडता है। इस हेतु साधक को उपवास–व्रत या लम्बी तपस्या करने का अभ्यास बनाना चाहिये ताकि अन्दर की दुर्गंध अन्दर ही समाहित हो जाय। उसके साथ ही शेष गदगी को विरेचन पदार्थ आदि के माध्यम से बाहर निकालकर आहार तन्त्र को स्वस्थ एव सक्रिय बनाना समीक्षा के लिये आवश्यक है। इस शेष गदगी को बाहर निकालने मे श्वास तत्र सहायक होगा तो गदगी बाहर निकल जाने के बाद वह पुन स्वस्थ रूप से सक्रिय भी बनेगा। जिससे नियत्रण केन्द्र सबल बन जाता है ओर नये केन्द्रो से प्रवेश पाने वाली गदगी भीतर पहुँच नहीं पाती हे। साधक यदि प्रत्येक समय सावधान रहे और अपने विवेक तत्र को सतर्क रखे तो भीतर के अवस्थानो मे उत्पन्न होने वाली काम–क्रोधादि वृत्तियो को वह रूपान्तरित कर सकता है।

इस प्रकार की प्रक्रिया को सावधानी के साथ लम्बे समय तक सक्रिय रखी जाय तो साधक सूक्ष्म परिधि की समीपता मे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनो का स्व्य स्रष्टा और निर्माता बन कर स्वतत्रता साध सकता हे।

प्रबलतम शक्ति सकल्प

इस त्रिआयामी साधना मे सबसे प्रबलतम शक्ति होती हे सकल्प की शक्ति। सकल्प जितना प्राणवान् होगा, साधना उतनी ही सप्राण होगी। इस सकल्प शक्ति का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ कम किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ अधिक होता है। वह सस्कारात्मक सूक्ष्म शरीर भी जिसमे सूक्ष्म वृत्तियो के भी सस्कार होते हे, आज से नही, अनादि एव अनन्तकाल से ढलती आ रही चेतना के साथ सम्बन्धित होता है। इस चेतना से अज्ञानवश इन वृत्तियो को निज भाव रूप मे मान रखी है। बस यही भूल इस चेतन सत्ता को अनन्त काल से सत्रस्त बना रही है। चूकि यह भूल अनन्त काल की है, इस कारण उसका

परिमार्जन एकदम कुछ ही क्षणो मे या कुछ वर्षो मे ही हो जाय—इसकी कम समावना रहती हे। इसे सुधारने के लिये तो कई जन्मो तक साधना करनी पडती है। जिन महान् चेतनाओ ने अपनी ऐसी विकारी वृत्तियो पर विजय प्राप्त की है उन्होने भी अपने अनेक जन्मो की साधना के द्वारा वह विजय प्राप्त की है। हमे भले ही ऐसा लगा हो कि उन महापुरुषो ने इसी जन्म मे आत्म—साक्षात्कार करके मुक्ति प्राप्त कर ली। किन्तु मुक्ति प्राप्त होती है पूर्व जन्मो की अनेक साधनाओ के बल पर ही। ऐसा अपवादरूप से हो सकता हे कि आत्मा की अवस्थिति का परिपाक अत्यन्त त्वरित गति से हो जाय। यह एक अलग बात है।

इस प्रकार ऐसा उत्साहपूर्ण सकल्प सदा बना रहना चाहिये कि इस जन्म मे नही तो, मैं आगामी जन्म मे अवश्यमेव अपने लक्ष्य को प्राप्त करके सिद्ध अवस्था मे पहुँच जाऊँगा। यदि ऐसा सकल्प प्राणवान् होगा तो साधक इन विकारी वृत्तियो को परास्त करके सर्वकर्म विनिमुक्ति लोकालोक के साक्षात्कर्त्ता सिद्धस्वरूप को अवश्य ही प्राप्त करके रहेगा।

ऐसे दृढ सकल्प का सस्कार जब सूक्ष्म शरीर के साथ चेतना मे सयुक्त हो जाता है, तब वैसे ही सुसस्कार जन्म—जन्मान्तर तक अनुगामी बन जाते हैं। इस वजह से उसकी शक्ति आगामी जन्म मे भी आध्यात्मिक ऊर्जा को सम्बल प्रदान करती है। वह प्रबल सम्बल एक दिन सूक्ष्मतम शरीर के समस्त विकारो को उखाड कर फैंक देता है और परम शुद्धि का द्वार खोल देता है।

सद्विचार की शक्ति

तीव्रतम सकल्प के साथ इस साधना मे एक अन्य शक्ति की भी अपेक्षा रहती है और वह है सद्विचार की शक्ति। यह सद्विचार की शक्ति जब तक सकल्प की सपुष्टि का वातावरण तैयार करती रहती है, तब तक सकल्प शक्ति क्रियाशील बनी रहती है। सपुष्टि का ऐसा वातावरण न हो तो सकल्प निष्क्रिय वन जाता है। यदि सम्पूर्ण जीवन ही विलासपूर्ण वातावरण से विलग हो जाय ओर अपने आध्यात्मिक सकल्पो का आवर्तन करता रहे तो इन सकल्पो की सहायता से लक्ष्य सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इसलिये सकल्प—साधना के साथ—साथ सद्विचारो के वायुमडल का निर्माण बहुत आवश्यक हे अथवा यो कहा जा सकता है कि सकल्प रूपी नगर की सुरक्षा के लिये पवित्र विचारो का उसके चारो तरफ कोट बहुत जरूरी है।

विचारो के अनुसार ही जीवन के स्वरूप का सृजन होता है— ऐसी जैन दर्शन या कर्म सिद्धान्त की निश्चित मान्यता है। वास्तव मे तो वर्तमान काल

के विचार ही भावी जीवन निर्माण की रूपरेखा बनाते हें। अत इस सदर्भ मे विचारो की महत्ता और अधिक बढ जाती है कि आज के विचार आचार ही कल के जीवन की नींव रखेगे।

ये विचार यदि अप्रशस्त होगे तो जीवन अप्रशस्तता की दिशा मे गति करेगा और आगामी जीवन को भी अप्रशस्तता का रूप देगा। इसके विपरीत प्रशस्त विचारो के द्वारा वर्तमान तथा अनागत दोनो जीवनो को समुज्ज्वल बनाया जा सकता है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी सिद्धि भी वैसी ही होती है। ध्यान साधना के परिप्रेक्ष्य मे विशुद्धतम विचारो का सुप्रभाव सूक्ष्म एव सूक्ष्मतम शरीरो पर अकित हो जाता है और यदि आगामी जीवन का आयुष्य–बध उन विचारो के दौरान हो जाय तो सूक्ष्मतम शरीर के साथ अनुबधित वे विचार अपने भविष्य को याने कि आगामी जन्म को भव्यता प्रदान कर देते हें। इस दृष्टि से साधानानुकूल वातावरण, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर तथा आध्यात्मिक सयोग की अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हो जाती है जिनके माध्यम से फिर साधना का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है। तदनुसार गति करने पर अबाधित आनन्द को पाया जा सकता है।

सत्सकल्पो के समान ही सद्विचारो की ऊर्जा प्राप्त होने से साधना की गहराई मे उतरते हुए साधक का इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिये कि में अविलम्ब अपने गतव्य पथ की तरफ आगे बढता जाऊँ ओर अचल सिद्ध स्वरूप का वरण करलू। इस दृढ सकल्प में सशय को कोई भी स्थान नही दिया जाना चाहिये। अटल निष्ठा का सकल्प साथ हो और हो किसी भी व्यवधान से बाधित न होने की प्रखर भावना। तब विशुद्ध और मगल विचारो व सकल्पो की सावधानी सफलता की ओर साधक को अग्रगामी बना देगी।

समीक्षण की पूर्णता

समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता के लिये तब तीसरे आयाम मे निर्धारित भविष्य के सकल्पो में समता के सकल्प का उदभव हो जाता है। समता का सर्वत्र प्रसार ही समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता का प्रदीप्त प्रमाण बनता है।

तब साधक के चित्त के सृजन का पहला सूत्र बन जाता हे–समता का सूत्र। समग्र साधना का मूल हो जाती हे समता की सरल भावना। जब तक समता की साधना सर्वोच्च लक्ष्य के रूप मे नहीं साधी जाती हे, तब तक सफलता नहीं मिलती है और अन्त प्रवेश मात्र एक काल्पनिक उडान बन कर अवरुद्ध हो जाता हैं। विषमता की ज्वालाए सुलगती रहेगी तो उसमे साधना का पल्लवन असमव ही बना रहेगा। बिना समता के अन्त साधना चाहे जितनी

कर ली जाय, उसका धरातल भी तेयार नहीं हो सकेगा।

अत सम्पूर्ण जीवनी शक्ति का समर्पण समता के लक्ष्य के लिये ही होना चाहिये। समता को ही अध्यात्म की प्राण ऊर्जा माननी चाहिये और जीवन मे समता के सवर्धन का सकल्प लेना चाहिये। समत्त्व योग की चरम उपलब्धि यकायक नहीं हो जाती है यह सही है, फिर भी उसके प्रति आस्था का जो अकुरण सम्यक् रीति से कर दिया जाय तो एक दिन वह समता विशाल वृक्ष का आकार ले लेगी। यही नही, उस वृक्ष के मीठे फल अनुपम आनन्द भी प्रदान करेगे। समता सम्यक् आस्था के अभाव में जो भी साधना की जायगी, उसका समावेश विराधना की कोटि मे ही होगा। इसके विपरीत स्वल्प मात्रा मे भी साधी गई समतापूर्वक साधना लक्ष्य की दिशा मे गतिमान बनायगी। वही परम समत्व योग के समीप भी पहुँचा देगी।

साधक के मन मे विषमता के बीज वपित कर उसकी आत्म–चेतना पर अकुरित होने लगे उससे पहले ही वह अपनी समस्त वृत्तियो को समता की साधना में नियोजित कर दे, जिससे उसकी साधना को अबाध गति प्राप्त हो सके। समत्व साधना से साधक को विचलित करने के लिये अनेक तूफान खडे होते हैं, झझावातो के आघात चलते हैं, किन्तु उसे इन सबका अपनी समुन्नत आत्म शक्ति से मुकाबिला करना होगा। आधियो और तूफानो के लिये सभी दिशाएँ द्रव्य ओर भाव रूप से खुली रहती हैं और यह कहना कठिन होता हे कि किस दिशा से कितनी प्रबल आधी उठेगी ? परतु यदि साधक का अपना समत्त्व योग का आसन सुदृढ होता है तो वे आधियाँ उमड–घुमड कर भी अप्रभावी ही रहकर थम जायगी। कारण, समत्व साधना एव समीक्षण ध्यान का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। वे एक दूसरे के साथ पूरी गहराई और मजबूती से जुडे रहते हें। एक प्रकार से समीक्षण ध्यान को समता साधना का ही नाम दिया जा सकता है। समता पूर्वक सबकुछ देखना ही तो समीक्षण है।

समीक्षण की अन्तर्गत भावना को और अधिक स्पष्टता से समझ ले। इस देह के मृत्पिड मे सर्वशक्तिमान् चैतन्य अपनी समस्त शक्तियो को सगोपित करके रहा हुआ हे और उसके द्रव्य तथा भाव रूप अनेक द्वार हैं। उन्हीं द्वारो से तथा प्रधानतया काम–क्रोध आदि विकारों के द्वारो से अथवा किसी भी एक द्वार से समता साधना के बाधक तत्त्वो का प्रवेश समव हो सकता है। ऐसी वेला मे यदि अन्तर्चेतना की शक्ति विवेक के दीपक के साथ जागृत न हो अथवा बाधक तत्त्वो का ज्ञान न हो तो वे बाधक तत्त्व जो अनादि काल

से अपना आसन जमा कर बैठे हुए हैं, मलिन वृत्तियो को उभारेगे तथा अल्प विकसित समता साधना के अकुरो को उखाड कर ध्वस्त बना देगे। इसलिये समीक्षण ध्यान की इस प्रक्रिया मे समता की साधना के लिये सतत सविवेक जागृति की अपेक्षा रहती हे।

सतत विवेक जागृति के दीपक को प्रदीप्त रखकर ही साधक समता की ज्योति को प्रज्वलित रख सकता है। कल्पना करे कि साधक समता की साधना मे तन्मय बना हुआ है और उसकी आत्मलीनता अभिवृद्ध होती जा रही हे, उस समय समझिये कि उसके कानो मे इस प्रकार के विषम कटु शब्द आते हें कि एक बार उसकी मनोभूमि पर विषमता की प्रतिध्वनि गूजती है जो उसकी साधना की समता धारा को आन्दोलित कर देना चाहती है, तब भी वह अपनी समता धारा को शान्त–प्रशान्त बनाई रखे तो उसे समझना चाहिये कि उसकी साध॰।। मे परिपक्वता की स्थिति आने लगी हे। दूसरी स्थिति यह हो सकती हे कि वह विषमतापूर्ण कटु स्वर उसके ज्ञान केन्द्र को अस्थिर बनाकर विपथगामी बना दे तो वह भी विषम चिन्तन के लिये विवश बन जाता हे। यह इस कारण होता है कि ज्ञान केन्द्र अपने क्रिया केन्द्रो को सूचित कर देता है, विषमता के फूट जाने के बारे मे। तब प्रतिक्रिया मे साधक की चेतना आन्दोलित हो जाती है। साथ ही शरीर के सर्व केन्द्र भी प्रकपित हो जाते हें। समझिये कि यही से समता साधना का स्खलन शुरू हो जाता है। द्रव्य मन पर भाषा के उन स्कन्धों का ऐसा प्रभाव पडता है जिसके कारण ही ऐसा अनर्थ घटित हो जाता है। यह स्खलन ऐसा होता है कि वर्षो की साधना की प्रगति मे बहुत बडा व्यवधान खडा हो जाता है। दुष्ट शब्दो की एक सामान्य–सी क्रिया भीतर मे कितनी भयकर प्रीतिक्रिया उत्पन्न कर देती है–यह बहुत ही गभीरता से समझने योग्य विषय है।

समीक्षण ध्यान साधक के लिये इस दृष्टि से यह चिन्तन आवश्यक है कि चाहे कटु हो या मधुर–सभी प्रकार के शब्दों के प्रति उसकी विवेकपूर्ण समत्त्व प्रज्ञा सदा जागृत रहे। उसका ज्ञान केन्द्र इतना तटस्थ और समभावी हो जाय कि वह अपने हिताहित के विषयो पर तत्काल सम्यक् निर्णय ले सके। उसके द्रव्य मन को वह इस तरह घड़ ले कि प्रतिकार की कैसी भी भावना उसे आन्दोलित या चलायमान न बना सके। तब ऐसी जागृति सामान्य और सहज रूप ग्रहण करके उसे आत्मस्थ रहने मे समर्थ बना देगी। वैसी अवस्था मे उसे बाहर की कोई भी क्रिया विचलित नही बना सकेगी। यही नहीं, उसकी सहजता और समता से अपशब्द की कटु क्रिया भी उसकी

साधना को अधिक सशक्त बनाने मे सहायक भूत हो जायगी।

समीक्षण ध्यान साधना मे अपने ज्ञान केन्द्रो के ऊपर तथा उसी प्रकार समस्त बाधक तत्त्वो पर एक सशक्त नियत्रण उत्पन्न हो जाना चाहिये। यह नियत्रण इतना सुदृढ हो कि उसकी समत्त्व भावना एव विवेक दृष्टि का दीपक सदा प्रकाशमान रहे और वह उस प्रकाश को सदा अनुभव लेता रहे। फिर चाहे वह अपशब्द सुने, वीभत्स दृश्य देखे, दुर्गंध सूघे या अस्वाद पदार्थ चखे अथवा स्पर्शे, उसके मन को कोई भी प्रतिकूलता चचल नही बना सकेगी। उसकी ऐसी सुदृढता के साथ ही इन्द्रियातीत विषय जैसे पूर्व दृष्ट, श्रुत वगैरा भी साधक के चित्त को विकेन्द्रित नहीं कर सकेगे। कभी–कभी इन्द्रियातीत विषयो को साधक भली प्रकार से पहिचान नहीं पाता है तो वे उसके ध्यान को विकेन्द्रित करने की चेष्टा करते हैं किन्तु उस समय साधक समीक्षण ध्यान के माध्यम से अपने को उनसे दूर खींच लेता है और समत्व योग से अपने आत्म स्वरूप की गहराई मे डूब जाता है। वह अपने इस प्रकार के अभ्यासक्रम से अपनी अत्यन्त सूक्ष्मतम वृत्तियो के अवलोकन मे भी सक्षम हो जाता है तो उन वृत्तियो के परिमार्जन में भी दक्षता प्राप्त कर लेता है। तब वे मलिन वृत्तियॉ उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकती है और वह साधक स्वय अपने आत्म–स्वरूप का तथा लक्ष्य पथ का भी सफल दृष्टा बन जाता है।

जैसे नदियॉ समुद्र मे मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त विकार वृत्तियॉ समीक्षण ध्यान के माध्यम से समत्व के महासागर मे विलीन होकर समता भाव मे रूपान्तरित हो जाती हैं तथा इस स्तर पर पहुॅच कर समीक्षण ध्यान अपनी परिपूर्णता पा जाता हे। तब चेतना भी अलौकिक एव अनिर्वचनीय सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

चिन्तन आचरण मे उतरे

यह त्रिआयामी रूप समीक्षण साधना अपने तीन चरणो मे विकसित होती हुई मन शोधन तथा मनोविश्लेषण के सामर्थ्य को अवाप्त करे, पूर्णत आत्म सयम को साधे एव चरम व परम शक्ति की प्राप्ति तक पहुॅच कर ही विश्राम ले–साधक का ऐसा सुदृढ सकल्प बनना चाहिये और चिन्तन का यह सम्पूर्ण विषय साधक के आचरण मे उतरता जाना चाहिये।

अपने अतीत का स्मरण करते समय साधक विगतकालीन अपनी कलुषित वृत्तियो का चिन्तन भी करे तो साथ–साथ उनका शोधन भी करता जाय। आदर्श लक्ष्य का स्मरण करते हुए वह परमात्म भाव के साथ तादात्म्य

स्थापित करने की प्रेरणा भी ले तो अपने आत्म भाव को ऊर्ध्वगामी बनाने का पुरुषार्थ भी साधे। चिन्तन की गहराइयो मे उतर कर वह विशुद्धतम मन स्थिति का सृजन भी करे तो अपने कृर्तत्त्व की ऊर्जा को भी यत्नरत बनावे। इसके लिये उसे समीक्षण ध्यान के तीनो आयामो की साधना करते समय सकल्प की शक्ति, वातावरण की विशुद्धि, समय की नियमितता और विचारो की प्राजलता को अपने सहयोगी अगो के रूप मे स्वीकार करना चाहिये। यह याद रहे कि समीक्षण ध्यान मे सफलता प्राप्त करने के लिये सबसे पहले आवश्यकता होती है आत्म विकास की गहरी प्यास। यह पिपासा जितनी तीव्र होगी, ध्यान प्रयोग के प्रति उस की अभिरुचि भी उतनी ही तीव्र बनेगी। पूर्ण अभिरुचियुक्त पिपासा के साथ जो भी सत्कार्य हाथ मे लिया जायेगा, उसकी सफलता असदिग्ध बन जायेगी।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दे कि उद्देश्य दृष्टि की परिपूर्णता के प्रतिपादन के बावजूद यहाँ पर समीक्षण ध्यान का जो विधिक्रम बताया गया हे, उसे एक वर्ष के अभ्यास का विधिक्रम ही माने। पूरे वर्ष की साधना के बाद साधक के लिए आगे के मार्गदर्शन की अपेक्षा रहेगी। क्योकि अपनी वर्ष भर की साधना मे साधक के समक्ष कोन–कौनसे और कैसे–कैसे व्यवधान उपस्थित हुए, उसकी समीक्षा करके ही उसके लिये भावी विधिक्रम का निर्धारण करना पडेगा। इस मार्गदर्शन से वह अपने अगले चरण मे व्यवस्थित रूप से गति कर सकेगा। जब वह इस त्रिआयामी समीक्षण ध्यान साधना मे स्वस्थ गति ग्रहण कर लेगा तब वह अपने भावी कार्यक्रम के निर्धारण मे भी योग्य बन जायगा।

साधक इस सकेत को अपने ह्रदय का तलस्पर्शी बनावे कि समीक्षण ध्यान का यह प्रतिपादन अथवा उसका स्वय का चिन्तन मात्र विचारो तक ही सीमित न रह जाय। यह प्रयोगात्मक रूप से उसके आचरण मे उतरे तथा जीवन मे एकीभूत हो जाय। साधना के उसके प्रत्येक चरण मे सजगतापूर्वक समर्पण की भावना का निर्माण हो जाय तथा वह यथार्थ कार्यान्वय मे ढल जाय तो उसकी मन शक्ति तथा आत्मशक्ति के भव्य द्वार खुल सकते हैं जिनमे प्रवेश करके वह सम्पूर्ण मुक्ति के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

इस बात की गॉठ बॉध ले कि आम जनता के सामने साधना विषयक शब्दात्मक चर्चा करके ही न रह जाना महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपितु ध्यान–साधना को पहले अपने जीवन मे प्रेक्टिकल रूप देकर तथा स्वय को आम जनता के सामने उस साधना के आदर्श रूप मे रखना महत्त्वपूर्ण है। कई लोग इस

साधना को अपने जीवन मे न उतार पाने के हजार बहाने ढूढ लेते हैं, ऐसे लोग जब साधना की चर्चा करते हैं तो वह मात्र वाणी–विलास बन जाता है।

समीक्षण ध्यान साधना अथवा किसी भी सत्साधना का यही वास्तविक अर्थ मानना चाहिये कि उस साधना के बल पर जीवन मे फैल रही अन्तर एव बाह्य विकृत वृत्तियो का रूपान्तरण हो तथा साध्य की निकटता बने। यह लक्ष्य अवश्य पूरा हो सकता है बशर्ते कि उपरोक्त प्रयोग विधि को जीवन मे आत्मसात् करके सर्व प्रकार के तनावो से मुक्त हो जाय एव आत्म–दृष्टा भाव को जागृत बना ले। तब अशुभ वृतियो का शुभता मे रूपान्तरण भी होगा तो सतत सावधानी से मुक्ति पथ पर आगे बढते हुए आत्म देव के दर्शन भी होगे।

आत्म–रमण की अवस्था

ध्यान साधना की सफलता से स्वरूप–दर्शन तो स्वरूप दर्शन से आत्म–रमण की अवस्था प्राप्त होती है। समीक्षण का सुफल ही आत्म–रमण के रूप मे प्रतिफलित होता है। समतापूर्वक (समभाव के साथ) जब आन्तरिकता को निहारा जायेगा, तभी वहाँ विचरण करने की आवश्यकता महसूस होगी। निरीक्षण–परीक्षण के बाद ही क्रियाशीलता सुविचारित रूप से प्रोत्साहित होती है।

आत्मा के तीन प्रकार बताये गये हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। सुसाधना की गति बहिरात्मा से अन्तरात्मा तथा अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढती है। इन्द्रियो एव बाह्य पदार्थों मे जो आशक्ति होती है, उसे ही बहिरात्मा की सज्ञा मिलती है। जब उसी आत्मा के अन्तरग मे आत्मानुभव रूप आत्मसकल्प बनता है, तब वही बहिरात्मा अन्तरात्मा का रूप ले लेती है। अन्तरात्मा ही अपनी सतत साधना से परम विशुद्धावस्था प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार का रूपान्तरण ही आज की कर्मबद्ध आत्मा को परमात्म–स्वरूप प्रदान करता है। इसी रूपान्तरण के लिये सम्पूर्ण साधनाएँ हैं जिन मे ध्यान साधनाएँ प्रमुख हैं। ऊपर समीक्षण ध्यान साधना का जो सूक्ष्म विश्लेषण दिया गया हे, उससे स्पष्ट होता है कि एक साधक किस प्रकार तीन आयामो द्वारा अपनी अशुभ वृत्तियों का शुभता मे रूपान्तरण कर सकता है।

आत्म–रमण की अवस्था मे साधक बाह्य जगत् की अपेक्षा अपनी ही आन्तरिकता मे अधिक विचरण करने लग जाता है। वह अवस्था उसकी सदा–जागृति की अवस्था होती है। वह सासारिक व्यवहार के कार्यो मे उदासीन बनता जाता है और स्व–पर के लोकोपकार मे सतत सावधान हो

जाता है। वह यह समझ जाता है कि जो सासारिक व्यवहार के कार्यो मे जागता हे, वह आत्म–कार्यो मे सोता है। यह समझ कर वह स्व–पर के लोकोपकार मे तनिक भी प्रमाद नही करता है। वह सच्चा आत्म–रामी बन जाता है।

आत्म–रामिता आत्म–रमण का ही नाम है। आत्म–रामी सदा आध्यात्मिक विषयो का ही चिन्तन करता रहता हे क्योकि वह जो भी क्रिया करता है, विवेकपूर्वक करता है, फिर भी अपनी क्रिया की प्रतिक्रया को भी वह जाचता और शुभता की कसोटी पर कसता है। तदनुसार वह अपनी भावी क्रियाओ का परिमार्जन करता रहता है। आत्मावलोकन, आत्मालोचना, आत्मनियत्रण, आत्मचिन्तन तथा आत्मदमन का एक प्रक्रिया–चक्र आत्मरामी की अन्तरात्मा मे चलता रहता है जिसके आधार पर वह स्वय के चिन्तन को समुन्नत बनाता है, उस चिन्तन की छाप दूसरो पर छोडता है और दूसरो के चिन्तन की समुन्नति को भी प्रेरित करता है। आत्मचिन्तन को स्वस्थ सुधड एव सेद्धान्तिक रूप देने के लिये आत्म–समीक्षण के नव सूत्रो का निरूपण किया गया है, जो निम्नानुसार है–

(1) मैं चेतन्य देव हू।

मुझे सोचना है कि मैं कहॉ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ ?

चार गति चौरासी लाख जीव योनियो मे भटकते हुए मुझे समझना हे कि यह दुर्लभ मानव जीवन आदि किस पुण्योदय से प्राप्त हुआ है तथा जड–चेतन सयोग, सुख दु खानुभव एव ससार के ससरण का क्या रूप है ? यह समझ कर मैं मूर्छा और ममत्व को हटाऊगा, राग द्वेष और प्रमाद को मिटाऊगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मगलमय बनाऊगा।

(2) मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना हे कि मेरा अपना क्या है ओर क्या मेरा नही है ?

प्रबुद्धता की वेला मे मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या आचरण मेरे नहीं हैं, परन्तु पर–पदार्थो के प्रगाढ मोह ने मुझे पाप कार्यो मे फसा रखा हे। मैं मिथ्यात्व को त्यागूगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूगा एव आत्म–नियत्रण, आत्मालोचना व आत्म–समीक्षण से अपने मूल गुणों को ग्रहण करता हुआ ससार की आत्माओं मे एकरूपता देखूगा।

(3) मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ।

मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है और कौनसे सिद्धान्त अपनाने हैं ?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मैं सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तो से कितना दूर हूँ ? मैं सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूगा, श्रावकत्त्व एव साधुत्व के पालन मे सत्सिद्धान्तो के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूगा और ज्ञान व क्रिया के सयोग से निर्विकारी बनने मे यत्नरत हो जाऊगा।

(4) मैं सुज्ञ हूँ, सवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य तुच्छ भावो से ग्रस्त क्यो हैं ?

अनुभूति के क्षणों में मुझे ज्ञात होगा कि जडग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप मे ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत बना दिया है ? यही मेरी तुच्छता हीन–भावना का कारण है जिसे मैं तपाराधन से दूर करूगा, मन, वाणी व कार्यों में लोकोपकार की महानता प्रकटाऊगा ओर 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूगा।

(5) मैं समदर्शी हू, ज्योतिर्मय हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहॉ–कहॉ घूमता है, वचन केसा–कैसा निकलता है और काया किधर–किधर बहकती है ?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अधकार की परतो मे पडा हुआ मेरा मन भौतिक सुख–सुविधाओं की ही प्राप्ति हेतु विषय–कषायो मे उलझ कर कितना मानवताहीन, वचन कितना असत्य–अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप–अधर्ममय हो गया है ? मैं दृढ सकल्प के साथ मन, वचन एव काया के योगो को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड दूगा तथा भावना के धरातल पर समदर्शी बनने का प्रयास करूगा।

(6) मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हू और मुझे क्या करना चाहिये ?

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप मे सिद्धात्माओ जैसा ही है। मुझे देखना और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ गया है ? अपने आन्तरिक स्वरूप एव जागतिक वातावरण का

दृष्टा बन कर मैं शुभ परिवर्तन का पराक्रम दिखाऊगा, आत्म-शुद्धि का पुरुषार्थ प्रकट करूगा एव अहिसा, सयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियों के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उसमे समभाव जगाऊगा।

(7) मैं परम प्रतापी, सर्व शक्तिमान हू।

मुझे सोचना है कि मैं बधनो मे क्यो बधा हू? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है ?

अपनी अपार शक्ति से समीक्षण ध्यान में मुझे आत्म-साक्षात्कार होगा कि मैं अष्ट कर्मो के सारे बधन कैसे तोड सकता हू और मुक्ति के मार्ग पर वीतराग देवो की आज्ञा मे रहता हुआ कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ ? मैं अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूगा, उसे लोक-कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा सर्व शक्तिमान् होने का उपक्रम करूँगा।

(8) मैं ज्ञानपुज हूँ, समत्त्व योगी हू।

मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शान्ति क्यो नही मिलती, अक्षय सुख क्यो नहीं प्राप्त होता ?

ज्ञान के प्रकाश मे मैं अनुभव करूगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एव विश्व-कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है ? तब मैं एकावधानता से सम्यक् दर्शन ज्ञान व चारित्र की आराधना करूगा, गुणस्थान के सोपानो पर चढता जाऊँगा ओर समत्त्व-योग के माध्यम से अमिट शान्ति व अक्षय सुख को प्राप्त कर लूगा।

(9) मैं शुद्ध, बुद्ध निरजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या हे और उसे मे प्राप्त कैसे करु ?

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में मुझे प्रतिभासित होगा कि मे दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुप या नपुसक कहाँ हूँ और वर्ण, गध, रस, स्पर्श के आकार वाला भी कहा हूँ ? मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर, अमर, अवेदी, असेदी-अलेशी आदि गुणो से सम्पन्न हूँ। इससे मैं गुणाधारित जीवन का निर्माण करूगा, मनोरथ व नियम चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी बनूगा और अपन मूल स्वरूप को समाहित करने की दिशा मे अग्रसर होऊगा।

आगे के अध्यायो मे इन्ही नव–सूत्रो का विशद विवेचन किया गया है, इस दृष्टि से कि जब समीक्षण ध्यान का साधक आत्म–रमण की अवस्था मे विचरण कर रहा हो तो वह इस विवेचन को एक बार पढे, कई बार पढे, बार–बार पढे ओर परिमार्जन वृत्ति को जागृत करते हुए, आत्मानुभूति के सुखद क्षणो का आन्तरिक आनन्द ले। साधक इस विवेचन के साथ अपने अन्त करण को एकीभूत बना कर यथार्थ रूप से आत्मालोचना कर सके, आत्मज्ञान ले सके और आत्म–पुरुषार्थ की दिशा मे अपने चरण बढा सके इस विचार से सारा विवेचन उत्तम पुरुष मे दिया गया है। साधक उसे पढते हुए एकात्मता का अनुभव करेगा और आत्म–चिन्तन की आनन्द–धारा में अपने आपको तन्मय बना सकेगा।

नव–सूत्रो की विशेषता

इन नव सूत्रो का निरूपण यह ध्यान मे रखकर किया गया है कि समीक्षण की ध्यान साधना सम्पूर्ण बन सके। आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति से सम्बन्धित सभी विषयो को इन नव सूत्रो में समाहित कर लेने का यत्न किया गया है। एक प्रकार से जैन दर्शन की समूची सिद्धान्त–धारा का सार इन नव–सूत्रो मे समावेश करने का ध्यान रखा गया है, क्योकि जैन दर्शन प्रधानत निवृत्ति मार्ग है और सासारिकता से निवृत्ति मे ही आत्मा का मोक्ष समाया हुआ है। सपूर्ण कर्मो की निवृत्ति के लिये की जाने वाले सम्यक् प्रवृत्ति से ही मोक्ष की निस्पति अवाप्ति होती है।

निवृत्ति का दृष्टिकोण अकस्मात् भी कोई प्रभावकारी निमित्त पाकर उभर सकता है, किन्तु सामान्यतया इसे उभारने के लिये सबसे पहले वैचारिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इसे परिवर्तन की सज्ञा इसलिये दी जा रही है कि इस जड ससार मे रहते हुए, जड शरीर को धारण करते हुए तथा जड कर्मो से बधे हुए होने के कारण मनुष्य के विचार सामान्यत सासारिक व्यवहार से ही सम्बद्ध होते हैं। वह इस विषय पर कम सोचता है कि जिन सासारिक सुख सुविधाओ के पीछे वह भाग रहा है, वे उसे विकृत बनाती है, विशुद्ध नही। वह यह तो मुश्किल से ही सोचता है कि शुद्ध आत्मदृष्टि से यह शरीर भी उसका अपना नहीं है। वह तो शुद्ध रूप मे केवल आत्मस्वरूपी है। अत उसके वर्तमान विचारो मे परिवर्तन आवश्यक है। यह आवश्यक है कि वह अपने आत्म–स्वरूप को मुख्यता दे तथा उसी को जाचने, परखने व सुधारने मे अपनी प्राप्त शक्ति को नियोजित करे ताकि एक ओर वह अपने जीवन मे उदात्त गुणो का विकास कर सके तो दूसरी ओर अपने श्रेष्ठ जीवन

दृष्टा बन कर मैं शुभ परिवर्तन का पराक्रम दिखाऊगा, आत्म–शुद्धि का पुरुषार्थ प्रकट करूगा एव अहिसा, सयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियो के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उसमे समभाव जगाऊगा।

(7) मैं परम प्रतापी, सर्व शक्तिमान हू।

मुझे सोचना है कि मैं बधनो मे क्यो बधा हू? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है ?

अपनी अपार शक्ति से समीक्षण ध्यान मे मुझे आत्म–साक्षात्कार होगा कि मैं अष्ट कर्मो के सारे बधन कैसे तोड सकता हू और मुक्ति के मार्ग पर वीतराग देवो की आज्ञा मे रहता हुआ कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ ? मैं अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूगा, उसे लोक–कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा सर्व शक्तिमान् होने का उपक्रम करूँगा।

(8) मैं ज्ञानपुज हूँ, समत्त्व योगी हू।

मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शान्ति क्यो नही मिलती, अक्षय सुख क्यो नहीं प्राप्त होता ?

ज्ञान के प्रकाश मे मैं अनुभव करूगा कि मेरा आत्म–समीक्षण एव विश्व–कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है ? तब मैं एकावधानता से सम्यक् दर्शन ज्ञान व चारित्र की आराधना करूगा, गुणस्थान के सोपानो पर चढता जाऊँगा ओर समत्त्व–योग के माध्यम से अमिट शान्ति व अक्षय सुख को प्राप्त कर लूगा।

(9) मैं शुद्ध, बुद्ध निरजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है ओर उसे मैं प्राप्त कैसे करू ?

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन मे मुझे प्रतिभासित होगा कि मैं दीर्घ, ह्स्व, स्त्री, पुरुष या नपुसक कहाँ हूँ और वर्ण, गध, रस, स्पर्श के आकार वाला भी कहा हूँ ? मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर, अमर, अवेदी, असेदी–अलेशी आदि गुणो से सम्पन्न हूँ। इससे मैं गुणाधारित जीवन का निर्माण करूगा, मनोरथ व नियम चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी बनूगा और अपन मूल स्वरूप को समाहित करने की दिशा मे अग्रसर होऊगा।

आगे के अध्यायो मे इन्ही नव–सूत्रो का विशद विवेचन किया गया है, इस दृष्टि से कि जब समीक्षण ध्यान का साधक आत्म–रमण की अवस्था मे विचरण कर रहा हो तो वह इस विवेचन को एक बार पढे, कई बार पढे, बार–बार पढे और परिमार्जन वृत्ति को जागृत करते हुए, आत्मानुभूति के सुखद क्षणो का आन्तरिक आनन्द ले। साधक इस विवेचन के साथ अपने अन्तकरण को एकीभूत बना कर यथार्थ रूप से आत्मालोचना कर सके, आत्मज्ञान ले सके और आत्म–पुरुषार्थ की दिशा मे अपने चरण बढा सके इस विचार से सारा विवेचन उत्तम पुरुष मे दिया गया है। साधक उसे पढते हुए एकात्मता का अनुभव करेगा और आत्म–चिन्तन की आनन्द–धारा मे अपने आपको तन्मय बना सकेगा।

नव–सूत्रो की विशेषता

इन नव सूत्रो का निरूपण यह ध्यान मे रखकर किया गया है कि समीक्षण की ध्यान साधना सम्पूर्ण बन सके। आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति से सम्बन्धित सभी विषयो को इन नव सूत्रो मे समाहित कर लेने का यत्न किया गया है। एक प्रकार से जैन दर्शन की समूची सिद्धान्त–धारा का सार इन नव–सूत्रो मे समावेश करने का ध्यान रखा गया है, क्योकि जेन दर्शन प्रधानत निवृत्ति मार्ग है और सासारिकता से निवृत्ति मे ही आत्मा का मोक्ष समाया हुआ है। सपूर्ण कर्मो की निवृत्ति के लिये की जाने वाले सम्यक् प्रवृत्ति से ही मोक्ष की निस्पति अवाप्ति होती है।

निवृत्ति का दृष्टिकोण अकस्मात् भी कोई प्रभावकारी निमित्त पाकर उभर सकता है, किन्तु सामान्यतया इसे उभारने के लिये सबसे पहले वैचारिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इसे परिवर्तन की सज्ञा इसलिये दी जा रही है कि इस जड ससार मे रहते हुए, जड शरीर को धारण करते हुए तथा जड कर्मो से बधे हुए होने के कारण मनुष्य के विचार सामान्यत सासारिक व्यवहार से ही सम्बद्ध होते हें। वह इस विषय पर कम सोचता है कि जिन सासारिक सुख सुविधाओ के पीछे वह भाग रहा है, वे उसे विकृत बनाती है, विशुद्ध नहीं। वह यह तो मुश्किल से ही सोचता है कि शुद्ध आत्मदृष्टि से यह शरीर भी उसका अपना नहीं है। वह तो शुद्ध रूप मे केवल आत्मस्वरूपी है। अत उसके वर्तमान विचारो मे परिवर्तन आवश्यक है। यह आवश्यक है कि वह अपने आत्म–स्वरूप को मुख्यता दे तथा उसी को जाचने, परखने व सुधारने मे अपनी प्राप्त शक्ति को नियोजित करे ताकि एक ओर वह अपने जीवन मे उदात्त गुणो का विकास कर सके तो दूसरी ओर अपने श्रेष्ठ जीवन

के माध्यम से अन्य प्राणियो के दुखो को दूर करके तथा उन्हे भी अपनी वास्तविक उन्नति का मार्ग सुझा करके लोकोपकार मे निजत्त्व को विसर्जित कर सके अत पहले के विचार छूटे और स्वभाव के विचार आगे पकडे—यही समीक्षण ध्यान का प्रारभिक लक्ष्य है।

यह विचार—परिवर्तन आसान नहीं है। सम्यक् श्रद्धा के जागृत होने पर ही मिथ्या ज्ञान, सम्यक् ज्ञान के रूप मे रूपान्तरित होता है। अज्ञान के स्थान पर सम्यक् ज्ञान तो उपजे ही, किन्तु, भावना का गहरा पुट भी वहॉ लगे ताकि सम्यक् श्रद्धा भी जागृत हो, क्योकि सम्यक् ज्ञान एव श्रद्धा के सद्‌भाव मे सम्यक् चारित्र का पुरुषार्थ दिखाने मे फिर यह पुरुष पीछे नही रहेगा। चिन्तन की दृष्टि से आज के पुरुष मे पुरुषार्थ का सत्सकल्प बल पकडे—यही इन नव—सूत्रो का मूल लक्ष्य है।

इन नव सूत्रो की यथार्थ विशेषता तो समीक्षण ध्यान साधक ही इन्हें अपने गहन चिन्तन के विषय बनाकर जान सकेगे किन्तु परिचयात्मक दृष्टि से यह कह सकते हें कि जड चेतन सयोग के सदर्भ मे ससार एव आत्मा की गतिविधियों का अध्ययन करते हुए जड—चेतन सघर्ष के जितने बिन्दु हैं, वे इन नव सूत्रो मे सकलित कर लिये गये हैं, ताकि यह चेतना अपनी जडग्रस्तता को बधन रूप समझे तथा इस बधन को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने का कठिन सकल्प ले। नव तत्त्वों की पृष्ठभूमि मे चेतना—शक्ति इस रूप मे भी अनुप्रेरित की गई है कि वह समता के सरल सद्‌भाव से न केवल अपने आत्मस्वरूप को ही ओतप्रोत बनाले, अपितु समता की ऐसी रसधारा प्रवाहित करे कि ससार की सम्पूर्ण आत्माए 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दे दे। ये नव सूत्र गूढ चिन्तन के मोती हैं और प्रत्येक भव्य आत्मा को चिन्तन में निमज्जित बनाकर नये—नये मोती खोज लाने की भी ये नव तत्त्व अवश्य ही प्रेरणा देते हैं।

यह एक सत्य है कि वीतराग देवो ने आत्म विकास की महायात्रा के सम्बन्ध मे स्वानुभव के साथ सम्पूर्ण ज्ञान पाकर विधि विधान प्रदान किया है कि कैसे यह महायात्रा मन, वचन एव काया के सुव्यवस्थित योग—व्यापार के साथ सचालित की जाय तथा कैसे इस महायात्रा को सयम एव तप की कठिन आराधना से सफल, सम्पूर्ण और सिद्ध बनाई जाय ? फिर भी वह गूढ ज्ञान आज के साधक के मन—मानस मे भी स्पष्ट होना चाहिये। इन नव सूत्रों के निरूपण मे यह लक्ष्य भी सामने रखा गया है कि वीतराग देवों का ज्ञान ही सरल शैली मे साधक आत्मसात् कर ले।

नव–सूत्रो के नौ अध्यायो के पश्चात् 'समता की जय यात्रा' के शीर्षक से सम्पूर्ण विवेचन का उपसहार किया गया है कि आत्म–समीक्षण की पूर्णाहुति समता की सदा एव सर्वदा जय यात्रा मे ही प्रकट होनी चाहिए ?



अध्याय दो

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 1 :

मैं चैतन्य देव हूँ।

मुझे सोचना है कि–

मैं कहाँ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ ?

चार गति चौरासी लाख जीव योनियो में भटकते हुए मुझे समझना है कि दुर्लभ मानव जीवन आदि किस पुण्योदय से प्राप्त हुए हैं तथा जड–चेतन सयोग, सुख–दु खानुभव एव ससार के ससरण का क्या रूपक हैं ? यह समझकर मैं मूर्च्छा–ममत्व को हटाऊँगा, राग–द्वेष और प्रमाद को मिटाऊँगा एव अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मगलमय बनाऊँगा।

पहला सूत्र

मैं चैतन्य देव हूँ। अनन्त चेतना शक्ति का स्वामी हू। क्योकि मेरी चेतना का स्रोत कभी भी विलुप्त नही होता, निरन्तर प्रवहमान रहता है।

प्रवाह वैसा ही जैसे कि एक पहाडी झरने का होता है। झरने का जल बराबर बहता रहता है–कभी बडे वेग से तो कभी धीमी गति से। समतल भूमि आ जाय तो उसका विस्तार दिखाई देता है और सकडा चट्टानो भरा मार्ग हो तो उस झरने की जल–धारा पतली ही नही पड जाती, बल्कि कभी–कभी वह चट्टानो के बीच मे अदृश्य भी हो जाती है। अपनी गति तथा विस्तार की न्यूनाधिकता के बाद भी वह जल–धारा कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती। वह निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और कभी न कभी नदी का रूप धारण करती ही है। कई झरने अथवा नदियॉ अपने मन्द प्रवाह के कारण भूमिगत हो जाती हें यह दूसरी बात है। किन्तु अधिकाशत ऐसी नदियॉ अपने प्रवाह की निरन्तरता बनाये रखकर एक न एक दिन महासागर मे एकीभूत हो ही जाती हैं।

मेरी चेतना भी विकास की महायात्रा मे निरन्तर प्रवाहित हो रही है और उस प्रवाह का सद्‌भाव बना हुआ है। कारण, प्रवहमानता मेरी चेतना का मूल लक्षण है। यदि प्रवाह ही समाप्त हो जाय तो चेतना चेतना ही नहीं रह जायेगी। प्रवाह न रहे तो झरने को या नदी को झरना या नदी ही कौन कहेगा ? सतत प्रवाह ही के कारण वह जल–धारा झरने अथवा नदी के रूप मे मानी जाती है। ठीक ऐसा ही चेतना शक्ति का प्रवाह होता है। मेरी चेतना सतत रूप से प्रवाहित होती हे, इसीलिये मैं जीव हूँ, आत्मा हूँ। यदि मूल मे चेतना का अस्तित्व ही न रहे तो मैं जीवात्मा ही नहीं कहलाऊँगा।

में सतत प्रवहमान चेतना शक्ति का स्वामी हूँ इसी कारण मैं चैतन्य देव हूँ। यह चेतना ही हे जिसके माध्यम से मुझे आत्मानुभूति होती है–नित नई जागृति प्रस्फुटित होती है। मैं सचेतन हूँ, प्राणधारी हूँ तभी तो प्राणी हूँ। जीव, आत्मा अथवा प्राणी मे चेतन्य का सद्‌भाव एक अनिवार्य शर्त है। इसके अभाव मे पदार्थ होगे, प्राणी नही होगे। पदार्थ होते हैं और सदैव जड ही रहते हैं। वे कभी भी प्राणधारी नहीं बनते। इसी प्रकार प्राणधारी कभी भी जड पदार्थ नहीं बनते।

इसीलिए में कहता हूँ कि मैं चैतन्य देव हूँ। मूल रूप मे जो चैतन्य स्वरूप मेरी आत्मा का है, वैसा ही स्वरूप इस ससार की प्रत्येक आत्मा का है—छोटे से छोटे तथा बडे बडे जीवधारी आत्मा का हे। यही नही, मूल रूप मे मेरा आत्म—स्वरूप ही सिद्धो, अरिहन्तो तथा महात्माओ के आत्म स्वरूप मे प्रतिबिम्बित होता है। यह दूसरी बात है कि सभी आत्माएँ विकास के अनेकानेक स्तरो पर प्रतिष्ठित होती हैं और जो आत्माएँ विकास की पूर्णता को साध लेती हैं, वे सिद्धात्माएँ बन जाती हैं।

तभी तो मैं मानता हूँ कि विकास के किसी भी स्तर पर गति कर रही मेरी आत्मा की चैतन्य धारा मे भी सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेने की क्षमता विद्यमान हे। पहाडी झरने के प्रवाह की तरह ही मेरी चैतन्य धारा भी कभी सबल हो जाती है तो कभी दुर्बल बन जाती है। कभी—कभी तो ज्ञान दृष्टि से देखने वालों को मेरी पतनावस्था पर ऐसी अनुभूति होने लगती है कि जैसे मेरी चेतना एकदम विलुप्त हो गई हो, किन्तु वास्तव मे ऐसा कभी होता नहीं। भाव—सरणियो के उत्थान के समय ऐसे क्षण भी प्रदीप्त हो उठते हैं जब मेरी चेतना शक्ति का प्रवाह अपने विकास की महायात्रा मे अग्रगामी ही नही बन जाता है, अपितु अन्य कई जीवात्माओं को भी अपने प्रवाह का सम्बल प्रदान करके उन्हे भी प्रगतिशील बना देता है।

आह्वान अपनी चेतना का

मेरी चेतना शक्ति के प्रवाह की ऐसी गति, विगति अथवा प्रगति का क्रम क्या मेरे भीतर मे भी निरन्तर चलता हुआ मेरे अनुभव मे नही आता है ? क्या भावनाओ की ऊर्जा कभी मेरे अन्तरतम को भी आन्दोलित नही बना देती है ? में ऐसे कुसमय का भी अनुभव करता हूँ, जब मैं शून्य—सा हो जाता हूँ—हताशा जैसे मेरी जीवनी शक्ति को निगल—सी जाती है। तो इस प्रकार कभी मन्द तो कभी तीव्र कभी निम्न तो कभी ऊर्ध्व—मेरी चेतना का प्रवाह अटूट रूप से चलता ही रहता है। मेरा अमिट विश्वास है कि यह प्रवाह कभी न कभी नदी का रूप भी ग्रहण करेगा और एक न एक दिन अनन्त चेतना के महासागर सिद्ध स्वरूप मे एकीभूत हो जायगा।

किन्तु इस प्रक्रिया की सफलता के लिये मुझे अपनी चेतना को आह्वान करना होगा—उसे सुषुप्ति से जगाकर सुजागृतिमय और अनुभूतिमय बनानी होगी। यही विकास की महायात्रा का शुभारम होगा।

जब मैं अपने इस मानव जीवन मे गर्भावस्था से बाहर दुनिया के उजाले मे आया, नाना भाति के रग मेरी आखो के आगे तैरने लगे। प्रकृति

के विशाल वक्ष पर खिलते मैं उन रगो को देखता, पल–पल फूटती हुई विविध ध्वनियो को में सुनता, भाति–भाति के स्वादो का मैं आस्वादन करता और नाना प्रकार की गधो को मैं ग्रहण करता तो लगता है कि जैसे मेरे बाल्यकाल की सज्ञा बडी पैनी थी। बहुत कुछ जान लेने की उस मे एक प्रखर उत्सुकता थी। बाहर के दृश्य भीतर मे उभरते रहते थे। इन्द्रियो और मन की सक्रियता बढती जाती थी। ससार का यह फैला हुआ क्षेत्र एव आकाश का अपार अन्तराल मेरी चेतना को जागृत बनाते थे कि यहाँ जानने को बहुत है और उस ज्ञान को भीतर मे उतार कर प्रकाश की किरणे खोज लेने की असीम गहराइयाँ भी यहाँ मौजूद हें। तथ्यात्मक जगत् का ज्ञान एक सीढी बनी तो उससे उपजने वाली भावनाओ ने मेरी चेतना को जो नया मोड दिया, वह मोड मुझे ऊपर की सीढियो पर चढते रहने की प्रेरणा देने लगा।

में देखता हूँ कि मुझे मेरे शारीरिक निर्वाह के लिये अमुक पदार्थो की आवश्यकता होती हे जिन्हें मैं प्राप्त करने के लिये तत्पर बनता हूँ। किन्तु यह भी में देखता हूँ कि मेरे जेसे अन्य मनुष्यो तथा प्राणियो को भी अपने–अपने शारीरिक निर्वाह के लिये वेसे ही पदार्थो की आवश्यकता होती है। ओर जब उन पदार्थो को प्राप्त करने के लिये मनुष्य–मनुष्य के बीच मे विचित्र अवस्थाओ को में देखता हू तो कई प्रकार के दृश्य सामने आते हैं। कई बार ओर कई स्थानो पर मनुष्य समूह के पारस्परिक सहयोग के दर्शन होते हें कि एक दूसरे को आवश्यक पदार्थो की पूर्ति मे वह सहायता कर रहा हे तो अनेक बार और अनेक स्थानो पर इस सम्बन्ध मे हृदयहीन दृश्य भी दिखाई देते हैं। शक्तिशाली मनुष्य अपने से दुर्बल लोगो का दमन करते हैं तथा उनसे आवश्यक पदार्थ छीन कर अपने पास जमा कर लेते हैं अथवा उन्हे आवश्यक पदार्थ प्राप्त ही नहीं करने देते हें। इस तरह सामाजिक अन्याय का उदय होता है।

मैं जब एक सामाजिक प्राणी के नाते अन्याय तथा अत्याचार की इन वनती बिगडती झलकियो को देखता हू तो उस तथ्यात्मकता के साथ–साथ अपने भीतर मे एक प्रकार की भावात्मकता की अनुभूति भी महसूस करता हूँ। विचार उठता है कि ऐसी टकराहट ओर ऐसा सघर्ष क्यो ? क्यो कोई जरूरत से भी वहुत ज्यादा पा जाता है ओर क्यो किसी को उसकी जरूरत का अल्पाश भी नही मिलता ? भावनाओ के ऐसे बिन्दु पर कभी–कभी मेरा मन काप उठता है, सहज कारुणिकता जाग जाती हे और मैं अपना सब कुछ उन अभावग्रस्त लोगो को दे देने के लिये तत्पर हो जाता हूँ। मेरी चेतना शक्ति

तब अपनी जागृति का एक नया ही क्षण अनुभव करती है।

मेरी चेतना शक्ति की ऐसी अभिव्यक्ति उन क्षणो मे मुझे अपना एक अमूल्य धन लगने लगता है। मेरी अभिलाषा जागती है कि मे अपने पास–पड़ोस का रोना–हसना सुनू, उन लोगो के दु ख–सुख को जानू और उनके रोने के दु ख को कम, किवा समाप्त कर सकू, ऐसे प्रयास प्रारभ करू। यह अभिलाषा जितनी बलवती होती है, मेरा आन्तरिक आनन्द बढता है और ऐसा महसूस होता है कि जैसे मेरे अपने भीतर मे प्रकाश की चमचमाती रेखाएँ खिच रही हो। तब मुझे समझ मे आता है कि मेरी चेतना जाग रही है, आगे से आगे प्रवाहित हो रही है और उसके उस जागरण तथा प्रवाह मे मुझे प्रतीत होता है कि 'मैं' जाग रहा हूँ और बढ रहा हूँ। मेरी चेतना का आह्वान तब अग्रगामिता के नये आयाम ग्रहण करता है।

'मै' की आनन्ददायी अनुभूति

तथ्यो और भावनाओ के परिप्रेक्ष्य मे मेरा यह 'मैं' जो जागता है, वह मुझे आनन्ददायी अनुभूति प्रदान करता है। वह आनन्द बाहर का सुखाभ्यास नहीं होता, बल्कि आन्तरिकता की गहराई से फूटने वाला सहज आत्मिक आह्लाद होता है। आनन्दानुभूति की उस वेला मे मेरा 'मैं' उद्दड या उद्धत नहीं होता, अपितु अपने मूल स्वरूप को पा लेने की अभिलाषा मे अथक रूप से गतिशील होना चाहता है। लगता है कि उस समय मैं अपनी चेतना का सार्थक रीति से आह्वान कर रहा हूँ और मेरी वह चेतना 'मैं' के आदेश का अनुसरण करती हुई ऊर्ध्वगामी बनती जा रही है। तब मुझे अपनी आध्यात्मिक प्रगति का सुख अनुभव होने लगता है।

मुझे अपनी आत्मिक विगति का कटु अनुभव भी है। मैंने अपनी बढती हुई जानकारी से ससार के विविध पदार्थो का ज्ञान किया तब मेरा विवेक अपनी इन्द्रियो तथा अपने मन पर नियत्रण न रख सका। उस समय सुखदायी पदार्थो को पा लेने की अनन्त इच्छाएँ भीतर ही भीतर घुमड उठी कि मैं ही उनका उपयोग करू। फिर उन इच्छाओ की पूर्ति की मृगतृष्णा ने मुझे कष्टो के मरुस्थलों मे भटका दिया। मैं भ्रमजाल मे बधा भटकता रहा, तनाव को बढाता रहा और अपने चेतना के प्रवाह को मन्द बनाता रहा। आकाश के समान अनन्त इच्छाओ का भार ढोते हुए कई बार बाह्य आघातो ने मेरे भीतर को आहत किया है और मेरे 'मैं' को बाहर के सारे खोखलेपन पर पैनी नजर डालने को मजबूर भी किया है। तब वे क्षण भी मेरी चेतना की जागृति के सार्थक क्षण सिद्ध हुए हैं क्योंकि उन्हीं क्षणो में मरुस्थल में भटकती हुई मेरी

आत्मा को दो बूद अमृत मिला है जिसका रसास्वादन कर मेरे 'मैं' की अनुभूति परिपुष्ट हुई है।

उसी परिपुष्ट अनुभूति एव नवागत आनन्द को लेकर मेरे मन मे तब महत्त्वाकाक्षाओ का ज्वार भी जागा है। अपने ही स्वार्थो को पूरा करने हेतु दूसरो को कुचल डालने की दुष्कल्पनाएँ भी मैंने की थी तथा सासारिक 'ऊँचापन' पाने की घृणित लालसाओ ने मेरे मन, वचन एव कर्म को भी भटकाव की राह पर धकेला था, किन्तु यह मेरी चेतना के आह्वान तथा 'में' पन की आनन्दानुभूति का ही सुफल था कि में उन अधेरी गलियो से कुछ बाहर निकल सका, जहाँ से मुझे थोडा खुला आकाश और खुली रोशनी दिखाई देने लगी। तब मैं अधकार से ज्योति की ओर बढने लगा।

इस प्रकार मैं अपने वर्तमान जीवन मे ही सोया हूँ, गिरा हूँ, भटका हूँ। तब मेरी चेतना का प्रवाह अदृश्य भले हो गया हो किन्तु विलुप्त कभी नहीं हुआ। तभी तो वह पुन पुन प्रकट होता रहा है। मेरी चेतना पुन पुन जागती रही है और अपनी निरन्तरता का आभास देती रही है। सतत रूप से सतर्क रखने वाली ऐसी निरन्तर जागृति ही मुझे अपने सासारिक स्वार्थों मे फसने से दूर खीचती रही है और सबके हितो को सवारने की नवानन्दमय प्रेरणा देती रही है। इसी जागृति ने मेरे अन्त करण को सद्विवेक के ऐसे साचे मे ढाला है कि वह सबके हित मे ही अपने हित को जाचने–परखने लगा है।

यह सच है कि यदि ऐसी सर्वप्राणहिताकाक्षा मेरे मन मे बलवती बन जाय एव क्रियाशील हो जाय तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरी आत्म विकास की लम्बी यात्रा भाव–सरणियो मे ऊपर से ऊपर उत्थान पाती हुई अल्प समय मे भी सम्पन्नता एव पूर्णता को प्राप्त हो सकती है।

यह भटकाव अनादिकालीन है

वर्तमान जीवन में मेरी आत्मा जो सासारिकता मे इधर–उधर भटकती रहती है, वह भटकाव मात्र इसी जीवन का नहीं है, अपितु अनादिकालीन है।

यह 'मैं' वह मात्र ही नहीं हूँ, जो अभी बाहर से दिखाई दे रहा हूँ। बाह्य दृष्टि से वह तो मेरा वर्तमान शरीर मात्र है। अनादिकाल से मेरी आत्मा इस ससार मे अनेकानेक शरीर धारण करती रही है एव भव–भवान्तर मे भ्रमण करती रही है। यह मानव शरीर मेरी आत्मा का वर्तमान निवास है। यह शरीर–निवास ही मेरी आत्मा की वास्तविकता का प्रतीक है।

आत्म–विकास का चरम स्थल मोक्ष होता है अत जब तक मेरी आत्मा अपने चरम को नही पा लेती है तब तक आगे भी ससार मे परिभ्रमण करती रहेगी। ससार का यह परिभ्रमण ही मेरी आत्मा का भटकाव है जो अनादिकाल से चल रहा है और मोक्ष प्राप्ति तक चलता रहेगा। जिस दिन मेरी आत्मा अपने समस्त कर्म बधनो को सम्पूर्णत विनष्ट कर लेगी और अपनी चेतना के प्रवाह को महासागर मे एकीभूति करने की दिशा मे तीव्र गति से मोड देगी, तब वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जायगी। फिर न रहेगा बास ओर न बजेगी बासुरी। न भटकाव रहेगा, न जन्म–जन्मान्तर और न ससार–परिभ्रमण। मेरी आत्मा तब अनन्त ज्योतिमर्य रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एव सुख में अजर–अमर हो जायगी।

इस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा मे अग्रगामी बनने के लिये मुझे इस सासारिक भटकाव को गहराई से समझना होगा ताकि कारणो के सम्यक् ज्ञान के द्वारा उनका निदान कर मैं अपना समाधान पा सकू।

अनादिकाल से अन्य सभी सासारिक आत्माओ की तरह मेरी आत्मा भी ससार की चार गतियो एव चौरासी लाख योनियो मे चक्कर लगाती हुई भटक रही है। मैंने इन सब गतियो तथा योनियो मे बारम्बार जन्म लिये हें, वहॉ की यातनाऍ तथा मूर्छाए भोगी हैं तथा कई बार चेतना जागृति के फलस्वरूप आत्म विकास की ऊँचाइयॉ भी साधी हैं।

'मैं' ने यानी कि मेरी आत्मा ने वर्तमान जीवन से पहले नारकीय जीवन की लोमहर्षक यातनाऍ झेली हैं, तिर्यच जीवन के क्रूर कष्टो को सहा है तो देवलोको के ऐश्वर्यमय जीवन के आनन्द भी उठाये हैं। किन्तु मैं अपने लिये सन्तोष का विषय यही मानता हूँ कि इस ऊँचे–नीचे परिभ्रमण के दौरान मेरी चेतना का दीपक बराबर जलता रहा जो घटाटोप अधकार के समय मे भी मुझे रोशनी की राह दिखाता रहा।

में अपनी स्मृति को पीछे लौटाता हू तो देखता हू कि मैंने बहुत प्राणियो की हिसा हो इस प्रकार तीव्र परिणामो से कषायपूर्वक महारभ की प्रवृत्ति की, वस्तुओ पर अत्यन्त मूर्छा रखकर महापरिग्रह सेवन किया, पचेन्द्रिय प्राणियो की हिसा करते हुए पचेन्द्रिय वध किया तथा मासाहार करने मे रस लिया, जिसके कुफल मे मुझे नरकायु का बध हुआ। ऐसा बध कई बार हुआ और मैंने घम्मा, बशा, सीला, अजना, रिट्ठा, मघा और माघवई–इन सातो नरको की भीषण यातनाऍ सहन की।

मेरा रोम रोम आज भी खडा हो जाता है जब मुझे अपने अज्ञानतायुक्त नारकीय जीवन मे मिले अपार कष्ट याद आते हैं। हम नारकीयो का वैक्रिय शरीर होता था जो भीषण प्रहारो का दु ख तो महसूस करता था किन्तु फिर से यथावत् हो जाता था। अधिकाशत हम नारकी के जीव ही भयकर रूप बना कर एक दूसरे को त्रास देते थे–गदा, मुद्‌गर वगैरह शस्त्र बना कर एक दूसरे पर आक्रमण करते थे। बिच्छू, साप आदि बन कर एक दूसरे को काटते थे ओर नुकीले कीडे बनकर एक दूसरे के शरीर में घुस कर उसे क्षत–विक्षत कर डालते थे। अत्यन्त ऊष्ण अथवा अत्यन्त शीत होने के कारण क्षेत्रजन्य वेदना अलग होती थी तो पहली तीन नरको मे परमाधार्मिक देवता भी कठिन यातनाएँ देते थे।

नारकीय यातनाओ का वर्णन करते हुए मेरी वाचा मे प्रकम्पन पैदा होता है। क्षेत्रजन्य ऊष्णता एव शीतलता की वेदना क्रमश एक से आगे की नरको मे तीव्र, तीव्रतर ओर तीव्रतम होती जाती थी। मध्य लोक मे ग्रीष्म ऋतु मे मध्याह्न के समय जब आकाश मे कोई बादल न हो, वायु बिल्कुल बन्द हो और सूर्य प्रचड रूप से तप रहा हो, उस समय पित्त प्रकृति वाला व्यक्ति जैसी ऊष्ण वेदना का अनुभव करता है, ऊष्ण वेदना वाले नरको मे उससे भी अनन्तगुणी वेदना होती थी उस वेदना की महसूसगिरी यह है कि अगर मुझे नरक से निकाल कर मर्त्यलोक मे बडी तेजी से जलते हुए खैर की लकडी के अगारों मे डाल दिया जाता तो मैं शीतल जल से स्नान करने के समान अत्यन्त ही सुख का अनुभव करता और उन अगारो पर मुझे नींद भी आ जाती। इसी प्रकार शीत के प्रकोप की महसूसगिरी भी ऐसी थी कि जैसे मध्य लोक में पौष या माघ की मध्यरात्रि मे आकाश के मेघशून्य होने पर जिस समय शरीर को बुरी तरह से कम्पायमान करने वाली शीत वायु चल रही हो, हिमालय गिरि के बर्फीले शिखर पर बैठा हुआ अग्नि, मकान और वस्त्रादि शीत निवारण के सभी साधनो से हीन व्यक्ति जैसी भीषण शीत वेदना का अनुभव करता है उससे भी अनन्तगुणी वेदना शीतप्रधान नरको मे होती थी। उस वेदना का घनत्व यह है कि यदि वैसी नरक के जीव को उपरोक्त परिस्थितियो मे हिमालय के बर्फीले शिखर पर खडा कर दिया जाय तो उसे सुख मिले तथा वहाँ उसे चैन की नीद भी आ जाय। मैंने इनके अलावा भूख, प्यास, खुजली, ज्वर, दाह, भय, शोक आदि के ऐसे दारुण दु ख भोगे हैं कि जिनकी याद मात्र से सिहरन फैल जाती है। मुझे याद है कि क्षुधा इतनी सताती जो जैसे ससार के सारे पदार्थ खा लेने के बाद भी शान्त न हो। प्यास

के मारे कठ, ओष्ठ, तालु और जीभ वगैरह हर वक्त सूखे ही रहते ओर मन करता कि सभी समुद्रों का सारा पानी भी पी जाऊ। खुजली छुरी से खुजलाने पर भी नहीं मिटती। उस समय मुझे प्राप्त ज्ञान भी मेरे घोर दु ख का ही कारण बनता क्योकि सभी दिशाओ से आते हुए दु खो के कारण अग्रिम रूप से ही जान लेने से मारे भय के कपकपी छूटती रहती थी।

परमाधार्मिक देवो द्वारा दी गई यातनाएँ भी बडी विचित्र होती थीं। कभी वे तपा हुआ शीशा पिलाते थे तो कभी अगारो से लाल बनी लौहमय स्त्री से आलिगन करवाते थे। कभी कूट शाल्मली वृक्ष के नीचे बिठा देते जिससे गिरने वाले तलवार जैसे पत्ते मेरे अग–अग को छेद डालते। हमारे शरीर लोहे के हथौडो से इस तरह कूटे जाते थे कि उस की एक बार तो लुगदी–सी–बन जाती थी। वसोले से शरीर छीले जाते थे। वे देव हम नारकीयो को भाले में उछाल–उछाल कर पिरोते थे, भाड मे भूनते थे, कोल्हू में पेलते थे, करौती से चीरते थे, घोर तपी हुई बालू पर फैंक देते थे, वैतरणी नदी में डुबो देते थे और इसी तरह की अनेकानेक यातनाएँ देते थे। '

मैं अपने नारकीय जीवन का एक अनुभव और बताना चाहता हूँ। नरक के जीवों मे भी दोनो प्रकार के जीव होते हैं–सम्यक् दृष्टि एव मिथ्या दृष्टि। सम्यक् दृष्टि जीव दूसरों द्वारा दी जाने वाली वेदना का अनुभव करते हुए सोचते थे कि हमने पिछले जन्मो मे घोर पाप कर्म किये थे जिनका कुफल हम भोग रहे हैं, अत वे उन यातनाओं को सम्यक् प्रकार से सहन करते थे तथा अपनी तरफ से दूसरे जीवो को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते थे। इस रूप में शान्ति से पूर्व कर्म–योग के साथ वे नये कर्मबध से बचना चाहते थे। दूसरी ओर मिथ्या–दृष्टि जीव क्रोधादि कषायो से अभिभूत होकर अपने पूर्व कर्मबधन को न समझते हुए शिकारी कुत्तो की तरह आपस मे उग्र हिसक रूप से लड़ते रहते थे तथा तरह–तरह की घातक विक्रियाएँ करते रहते थे। इस तरह नारकी का जीवन अत्यन्त दु खप्रद अवस्थाओं से गुजरा। जन्म जन्मान्तरो के इसी क्रम मे तिर्यच गति के क्रूर कष्टों का लेखा–जोखा भी मुझे भुगतना पडा है। तिर्यचगति के आयुबध के कारण थे कि मैंने अज्ञानता से द्विमुखी मायावी आचरण रखा, ढोंग रचकर दूसरो को ठगने की चेष्टाएँ कीं, झूठ बोलने मे सिद्धहस्तता पाई और झूठे तोल व माप से सबको धोखा दिया। तिर्यच गति में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की स्थावर जीव योनियो से लेकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय की जलचर, स्थलचर, नभचर व उरपरिसर्प तथा भुजपरिसर्प योनियों में भी मैंने जन्म लिये

तथा विचित्र परिस्थितियो के अनुभव किये। इन जन्मो मे भी मैंने अतीव क्रूर कष्ट सहे एव अचित्य वेदनाएँ भोगी।

ससार परिभ्रमण के चक्र मे ही 'मैं' जब–जब पाप पक से न्यूनाधिक अशो मे उबरता ओर सत्कृत्यो से पुण्यार्जन करता, तब मनुष्य गति मे भी मेरा परिभ्रमण कई बार हुआ तो कई बार देवलोको के विलासमय आनन्द–साधनो का भी उपभोग किया। यह स्वर्ग–सुख मुझे प्राप्त हुए क्योकि मैंने सराग सयम का पालन किया, देश–विरति श्रावक धर्म की साधना की, अनिच्छापूर्वक कर्मों की निर्जरा की और अविवेकपूर्ण बालभाव से कायाक्लेश आदि का तप आराधा। मैंने जब देव–जन्म पाया तो मेरा रूप स्वरूप सुदर्शनीय था। मेरी पुष्पमाला कभी नही कुम्हलाती थी, नेत्रो के पलक नहीं गिरते थे, देह सदा निर्मल रहती थी और वह भूमि से चार अगुल ऊपर उठी हुई चलती थी। ये लक्षण मेरे देवत्व के पहचान रूप थे।

देवलोको का समूचा दिव्य वातावरण मेरे लिये काम भोगो का इतना उद्दीपक था कि मैं इच्छा करते हुए भी मनुष्य लोक मे नहीं जा पाता था। मर्त्यलोक की अमनोज्ञता भी मुझे जाने से रोकती थी। उत्पत्ति के तत्काल बाद दिव्य काम भोगो मे आसक्ति न करते हुए अपने आचार्य, उपाध्याय आदि को वन्दन करने, ज्ञानियो व तपस्वियो के दर्शन करने अथवा अपने निकट सम्बन्धियो को अपनी नव प्राप्त ऋद्धि–सिद्धि दिखाने के निमित्त से मैं कई बार देवलोक से मनुष्य लोक मे पहुँचा भी हू किन्तु अधिक बार देवलोकों के दिव्य काम भोगो मे ही रमता रहा। इस प्रकार देवलोकों के सुखोपभोगो का मैने कई बार रसास्वादन किया।

किन्तु देव रूप मे एक तथ्य मेरे लिये सदैव विचारणीय रहा कि उस जीवन मे आत्मविकास की व्रतनिष्ठा कोई भी क्रिया आचरित नहीं की जा सकती थी। केवल शुभ भावनाएँ भायी जा सकती थी पर त्याग–प्रत्याख्यान के नाम पर शून्य ही रहता था। मे भी इस शून्य का अनुभव करते हुए मनुष्य लोक मे उत्पन्न होने की कामना किया करता था।

आज मुझे जो यह मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है उसके लिये मैंने पहले अपनी प्रकृति को भद्र बनाई थी, स्वभाव को विनय से भरा था, दया और अनुकम्पा के परिणामो को उच्चता दी थी एव मत्सर, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से मुक्त रहा था। फलस्वरूप यह मनुष्य जन्म मिला–ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म जो आत्म विकास की उच्चतम साधना का एक मात्र क्षेत्र है। ससार परिभ्रमण को घटाने और समाप्त करने का सफल पुरुषार्थ मैं जानता हूँ कि मेरा इसी जन्म

मे सभव है।

मुझे अपने गुरुजनो तथा आगमो से ज्ञान मिला है कि मनुष्य जन्म को शास्त्र श्रवण, सुश्रद्धा तथा शुभ पराक्रम के साथ आत्म विकास का अवलम्बन बनाया जाना चाहिये। आज मनुष्य तन मे निवास करती हुई मेरी आत्मा दुर्लभ प्राप्तियो के सदुपयोग मे प्रयत्नरत बने एव बनी रहे इस ओर मैं पूर्ण रूप से सचेष्ट बन जाना चाहता हूँ ताकि मेरे 'मैं' का स्वरूप विकास पाकर निरन्तर उज्ज्वलता की दिशा मे गतिशील बन सके।

यह जन्म-जन्मान्तर का क्रम जैसे ससार परिभ्रमण की न टूटने वाली श्रृखला है, जिसे तोड देने के पक्के उपाय करने की क्षमता मुझे इस मनुष्य जीवन मे प्राप्त है और जो कठिन लक्ष्य शक्य होता है उसे पाने के लिये कठोर साधना तो आवश्यक होगी ही।

आखिर यह ससार है क्या ?

अनादिकाल से जहाँ मेरी आत्मा निरन्तर परिभ्रमण करती हुई आ रही है, इस मनुष्य जन्म मे प्राप्त अपने इन्द्रिय तथा मन के विकास के परिप्रेक्ष्य मे मेरे लिये यह जानना नितान्त आवश्यक होगा कि आखिर यह ससार है क्या ? इसका क्या स्वरूप है ? इसके प्रागण मे कौन-कौन से तत्त्व सचरण करते हैं और वे अपना क्या प्रभाव छोडते हैं ? तभी यह जाना जा सकेगा कि ससार मे जारी अपनी आत्मा के इस परिभ्रमण को समाप्त कर देने के लक्ष्य को सामने रख कर मैं इस जीवन मे क्या-क्या करू ?

अनेकानेक भव-भवान्तरो के प्रत्यक्ष अनुभव से मेरी चैतन्य शक्ति ने ससार के वास्तविक स्वरूप को जाना है तथा अनेक ज्ञानी आत्माओ के कथन से उसे पहिचाना भी है। किन्तु यह ज्ञान और पहिचान कभी सजग भी रही तो कभी विस्मृति के गर्त मे डूबती भी रही। अपने विकास की पूर्णता पर न पहुँच पाने तक चेतना के साथ ऐसा ही परिवर्तन होता रहता है और यही वस्तुत सासारिकता है।

द्रव्य ससार (लोक) का स्वरूप क्या ? छोटी-सी परिभाषा है द्रव्यो का समूह रूप है। फिर प्रश्न होगा कि द्रव्य क्या ? जो गुण और पर्याय पर आधारित हो वह द्रव्य। गुणपर्यायवद् द्रव्यम्-तत्त्वार्थ सूत्र 5/37। गुण जो सदा एक सा रहे तथा पर्याय वह जो सदा बदलती रहे। यो द्रव्य छ होते हैं किन्तु मुख्य हैं जीव और अजीव। अजीव में शेष पाच द्रव्यों का समावेश हो जाता है। जीव का दूसरा नाम आत्मा है और आत्मा के सिवाय सभी अजीव हैं।

जैसे मैं हूँ। यह में जो हूँ, वह आत्मा है किन्तु मेरी आत्मा मुक्त नही है, शरीरधारी है। अत यह शरीर जो है, वह जड पुद्गलो से निर्मित है। इस प्रकार मेरे वर्तमान जीवन का अस्तित्व हे मेरी आत्मा एव मेरे शरीर के सयोग से हे। यह आत्मा एव शरीर का सयोग ही ससार है। इसके सिवाय भी जितनी दृश्यावलियॉ हैं, वे सब जड रूप हैं। यो कह सकते हैं कि इन चर्मचक्षुओ से जो कुछ भी दिखाई देता है, वे सब जड पदार्थ हैं। मुख्यत आत्माओ एव शरीरो का सयोग ही ससार की सारी हलचलो का मूल है। इन सारी हलचलो से ससरित होता हुआ ही यह ससार है।

अत मेरी आत्मा और मेरी देह का सयोग ही मेरा ससार है। दोनो के सयुक्त होने से सम्पूर्ण क्रियाए सचालित होती हें, इन्हीं क्रियाओ की शुमता एव अशुभता के आधार पर पुण्य एव पाप कर्मो का बधन होता है तथा इसी कर्मबधन के फलस्वरूप जन्म–मरण का क्रम चलता है। मैं इसी सासारिकता के चक्र मे भव–भवान्तर मे भ्रमण कर रहा हूँ तथा इसी प्रकार समस्त ससारी जीव भी ससार–परिभ्रमण कर रहे हें। जब समग्र कर्म–बधनो को समाप्त कर लेने पर मेरी आत्मा सूक्ष्म स्थूल देह के बधन से मुक्त हो जायगी तब वह सिद्ध हो जायेगी और सदा–सदा के लिये सिद्ध ही रहेगी। वह पुन कभी भी ससार मे अवतरित नहीं होगी। आत्मा का अपने मुक्त एव शुद्ध स्वरूप मे पहुँच जाना ही उसका मोक्ष होता है। आत्मा एव शरीर सयुक्त हैं तब तक ही ससार है।

ससार मे रहते हुए मेरी आत्मा एव मेरी देह के सयोग को गति, स्थिति, अवकाश एव व्यतीति के सम्बल की आवश्यकता होती है। जीव एव अजीव पुद्गल द्रव्यो के सिवाय शेष चार द्रव्य–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एव काल ये चारो उपरोक्त सम्बल उपलब्ध कराते हैं। मैं गति करता हूँ तो उसमे धर्मास्तिकाय का सम्बल मिलता है, अधर्मास्ति काय के योग से ठहरने की स्थिति बनती है। इस अवकाश मे समस्त क्रियाएँ आकाशस्तिकाय की सहायता से चलती हैं एव काल द्रव्य व्यतीत करने का कार्य करता है। यो सभी द्रव्यो मे जीव प्रमुख है जो जड कर्मो से सलग्न बनकर ससार मे विविध प्रकार की रचनाओ का निर्माता बनता है। कर्मो की सलग्नता से जीव विभिन्न प्रकार के शरीरो को धारण करने वाला बनता हे और शरीर दस प्रकार के प्राणो के बल पर टिके रहते हैं। इसलिये जीव को प्राणधारी या प्राणी भी कहते हैं।

मे प्राणधारी हूँ इसलिये अपने दस प्राणो की सहायता से अनुभव कर सकता हूँ कि मैं प्राणधारी क्यो कहलाता हूँ ? सीधी सी बात है कि प्राणो को

धारण करने से मैं प्राणधारी हूँ। तो प्रश्न उठता है कि ये प्राण कितने हें और कोनसे हैं ? मुझ द्वार धारण किये गये द्रव्य प्राणो की सख्या दस है। ओर भाव प्राण मेरी आन्तरिक शक्ति रूप ज्ञान, दर्शन, सुख और सत्ता रूप होते हैं। मैं सुनता हूँ, यह मेरा श्रोतेन्द्रिय प्राण है। इसी प्रकार मैं देखता हूँ, में सूघता हूँ, में चखता हूँ और में स्पर्शानुभव करता हूँ जो क्रमश चक्षुरीन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण तथा स्पशेन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। फिर मेरे मन, वचन एव काया रूप तीन प्राण श्वासोश्वास एव आयुष्य बल रूप दो प्राण और होते हें। चैतन्य लक्षण से युक्त जीव तथा नाशवान स्वभावी अजीव के ससारी सयोग की ये प्राण ही कडियॉ हैं, जिनसे ऐसा चेतन, इस ससार मे चित्र–विचित्र दृश्यो का चितेरा, विविध प्रकार के निर्माणो का निर्माता तथा ज्ञान–विज्ञान के गहन अनुसधानो का अध्येता बनता हे।

यह ससार एक रगमच है ओर में तथा मेरे जैसे अन्य जीव इस रगमच के कलाकार हैं। कर्म से प्रेरित होकर विविधजन्मो मे नाना प्रकार के शरीर धारण करता हूँ। मैं ही कभी पिता होता हूँ, तो कभी भाई, पुत्र और पौत्र भी हो जाता हूँ। कभी माता बनकर स्त्री और पुत्री भी हो जाता हूँ। यह ससार की विचित्रता हे कि स्वामी दास बन जाता है और दास स्वामी। एक ही जन्म मे राजा से रक और रक से राजा बन जाता हूँ। मैं ससार के सभी क्षेत्रो मे रहा हूँ, सभी जातियो, कुलो व योनियो मे मैंने जन्म लिया है और प्रत्येक जीव के साथ किसी न किसी रूप मे एव कभी न कभी नाता जोडा है किन्तु अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी मुझे इस ससार मे विश्राम नही मिला है।

मैंने इस ससार मे कर्मवश परिभ्रमण करते हुए लोकाकाश के एक–एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया किन्तु उसका अन्त नहीं आया। नरक गति मे जाकर मैंने वहॉ होने वाली शीत, ऊष्ण एव अन्य प्रकार की वेदनाएँ सहन कीं, तिर्यञ्चगति मे भूख, प्यास, रोग, वध, बधन, ताडन, भारारोपण आदि दु ख प्रत्यक्ष देखे तथा विविध सुखो की सामग्री होते हुए भी देव जन्म मे मैं शोक, भय, ईर्ष्या आदि दु खो से दुखित रहा। मनुष्य गति मे तो मैं वर्तमान में हूँ ही। गर्भ से लेकर वृद्धावस्था एव मृत्यु तक कितने दु ख भोगने पडते हैं–यह मैं स्वय अनुभव करता हूँ, समझता हूँ और देखता हूँ। चारो ओर दृष्टि फैलाता हूँ तो मुझे दिखाई देता है कि कोई रोग पीडित है, कोई धन, जन के अभाव मे चिन्तित है, कोई स्त्री पुत्र के विरह से सतप्त है और कोई दारिद्र्य दु ख से दबा हुआ है। मैं चारों ओर दु ख ही दु ख देखता हूँ कि कही युद्ध चल रहा है तो कहीं साम्प्रदायिक या जातिवादी सघर्ष हो रहा है। कही अनावृष्टि से

अकाल का हाहाकार है तो कहीं अतिवृष्टि से जल प्लावन की त्राहि–त्राहि मची हुई है। घर–घर कलह का अखाडा बना हुआ है, स्वार्थवश भाई अपने ही भाई का खून पी रहा है और माता–पिता व सन्तान के बीच मे भी कटुता चल रही है। सारा ससार दु ख और द्वन्द्वो से भरा हुआ है, कही भी शान्ति के दर्शन नहीं होते।

ससार के इन्हीं दु ख द्वन्दो के बीच जब मैं गहराई से चिन्तन करता हू तो मुझे लगता है कि सामाजिक प्राणी होने के नाते अभावों, पीडाओ और विषमताओ से त्रस्त अपने साथियो एव समस्त प्राणियो के प्रति भी मेरे कुछ कर्त्तव्य हैं। मैं अपना आत्म योग देकर भी दूसरो के अभावो, पीडाओ, विषमताओ को कम कर सकू तो उस दिशा मे मुझे नि स्वार्थ भाव से कार्य करना चाहिये। यह परोपकार की निष्ठा और क्रिया ही मुझे मेरे आत्म–विकास से जोडने वाली बनती है क्योकि स्वार्थ छूटता हे तभी परोपकार हो सकता है और परोपकार की वृत्ति बनती है तो अपनी आन्तरिकता मे एक अनूठे जागरण का आनन्द फूटता है। यही आनन्द जब बढता जाता है तो मुझे परमानन्द मे साक्षात्कार करने की ओर आगे बढा सकता है।

ससार के ससरण मे 'मै'

यो देखे तो इस ससार को बनाने वाला 'मैं' हूँ और मेरे जैसी आत्माएँ हैं। किन्तु मेरे तथा सभी ससारी आत्माओ के कर्मों की विडम्बना यह है कि हम इस ससार से बध गये हैं। ये आत्माएँ ही कर्मो से लिप्त होकर ससारी बनी हुई हैं जिनके विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त ससारी आत्माओं को इन दो–दो विभागो मे विभक्त कर सकते हैं–त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, सज्ञी और असज्ञी, अल्प ससारी ओर अनन्त ससारी, सुलभ बोधि और दुर्लभ बोधि, कृष्ण पक्षी और शुक्लपक्षी, भवसिद्धिक ओर अभवसिद्धिक एव आहारक ओर अनाहारक। वैसे ससारी जीवो की चार श्रेणियाँ मानी गई है– (1) प्राणी–विकलेन्द्रिय याने दो, तीन व चार इन्द्रियो वाले जीव (2) भूत–वनस्पति काया के जीव (3) जीव–पचेन्द्रिय प्राणी तथा (4) सत्त्व–पृथ्वी, पानी, अग्नि ओर वायु के स्थावर जीव। इस ज्ञान के कारण जीव को विज्ञ, तो सुख दु ख की सवेदना के कारण उसे वेद भी कहते हैं। ये ससारी आत्माएँ विभिन्न श्रेणियो के रूपो मे ढलती, बनती, बिगडती, उठती, गिरती नित नूतन रचनाएँ करती रहती हैं और इस ससार को अपने ससरण से ससार बनाती रहती हैं।

मैं आज ससारी जीव हूँ और सासारिकता से जुडा हुआ हूँ। किन्तु जब अपनी साधना के बल पर मे इस ससार से मुक्त हो जाऊँगा तब सिद्ध बन जाऊगा। तो समस्त जीवो के मोटे तौर पर दो वर्ग मान लीजिये–ससारी और सिद्ध। सिद्ध होने का अर्थ हे ससार से मुक्त हो जाना–ससार की ससरण प्रक्रिया से सर्वथा सदा के लिये विलग हो जाना। आत्मा मुक्त होती हे ससार से, इस ससार से–जो चेतन जड सयोग पर टिका हुआ हे। अत मुक्ति का मतलब है–चेतन का जड से सभी प्रकार के सम्बन्धो को सदा–सदा के लिये तोड देना। जब तक चेतन–जड के साथ सम्बन्धित रहता है तब तक ही उसके लिये यह ससार है और उस दिशा मे किये जाने वाले कर्मों के फलाफल के अनुसार उसे इस ससार मे भ्रमण करना ही होता है।

मैं चैतन्य देव हूँ। मेरी आत्मा अनन्त चेतना शक्ति की धारक है किन्तु जड तत्त्वो के साथ बधी हुई है–शरीर मे स्थित है। जड–चेतन सगम स्वरूप यह शरीर अपने मन, वचन, काया के जिस प्रकार के यौगिक व्यापार मे विचरता है तथा जिस प्रकार तज्जन्य विचार और आचार से सक्रिय होता है, उसी सक्रियता के परिणामस्वरूप शुभ अथवा अशुभ कर्मो से यह आत्मा बद्ध होती है। आत्मा का शरीर मृत्यु के उपरान्त बदल जाता है किन्तु बिना अपना फलभोग दिये निकाचित कर्म नही बदलते। वे कर्म आत्मा से जुडे रहकर इसके शरीर की अवस्था मे भी याने कि भावी जीवन मे भी अपना शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं। कर्म और फल का चक्र चलता रहता है जब तक कि कार्य–कारण रूप इन दोनो को पूर्णत समाप्त नहीं कर दिया जाता। अत कर्म के चक्र मे मैं ससार बनाता हूँ। कर्म चक्र की समाप्ति के साथ ही जड चेतन सयोग टूट जायगा तथा 'मैं' ससार से भी नाता तोड दूगा। तब 'मैं' शुद्ध स्वरूपी सिद्ध बन जाऊगा।

इसलिये 'मैं' ही ससार हूँ और जब मैं ही अपने आत्म पुरुषार्थ की उच्चतम सफलता साध लूगा तो समझिये कि 'मैं' ही सिद्ध हो जाऊगा।

इस प्रकार इस ससार के ससरण मे सारी लीला फैली हुई है मेरी बद्ध आत्मा की तथा उन अनन्त बद्ध आत्माओ की जो जब तक मुक्त नहीं हो जाती, इस ससार मे भटकती रहने को विवश हैं। ससार के ससरण का इस रूप में अनन्त–अनन्त आत्माओ के साथ 'मैं' भी एक कारण भूत हू। क्योकि 'में' अपने मूल स्वरूप की विकृति के साथ सासारिक जडता से ग्रस्त हूँ एक मैल–पुते आईने की तरह निष्प्रभ होकर। मेरी स्व–चेतना की प्रभा कभी किन्हीं गुरु की कृपा से उभरी भी तो मूल पर चढी विकृति की परतो को जानकर

भी स्वच्छ कर लेने मे मैं विफल रहा। यह अवश्य है कि इस विफलता ने मेरी आत्मा को कौंचा है और प्रेरणा दी है कि वह और अधिक पराक्रम दिखावे, अधिक पुरुषार्थ करे और अधिक तीव्र गति से मुक्ति की ओर आगे बढे।

इसी प्रेरणा ने मेरे 'मैं' को जमाया है यह जानने के लिए कि वास्तव मे वह है कौन ? उसका मूल स्वरूप क्या है और उसका वर्तमान धूलि-धूसरित अपरूप क्यों बन गया है ? ससार के ससरण मे यह 'मैं' कितना विवश बन गया है और क्यो ? किन्तु यदि यह 'मैं' सचेतन होकर जाग उठे तो वह किस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एव अनन्त शक्ति का वाहक बन सकता है ? तब उसका मूल स्वरूप कितना परमोज्ज्वल भव्य एव जाज्वल्यमान हो उठेगा ?

मेरा 'मैं' ही अपना वास्तविक परिचय अपने को दू और उसे पूर्ण गहनता से हृदयगम करू-यह परमावश्यक है। मैं अभी ससारी हूँ, कर्मों से लिप्त हूँ, वरन् मैं भी 'सिद्धो जैसा जीव' हूँ-यह जानता हूँ तथा अपनी क्षमता को पहिचानता हूँ कि 'जीव सोई सिद्ध होय।' मूल मे मेरा आत्म स्वरूप परम विशुद्ध है किन्तु मेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एव अनन्त सुख कर्म रूपी काले बादलों से ढका हुआ है। अभी मेरी ये आत्म शक्तियाँ भले ढकी हुई हैं किन्तु यह सुनिश्चित है कि इनके अस्तित्व का लोप नही है। जब भी मेरा सत्पुरुषार्थ पूर्णत प्रतिफलित हो जायगा। ये सम्पूर्ण शक्तियाँ अपनी पूरी प्रभा के साथ मेरे आत्म-स्वरूप में प्रकाशमान हो उठेगी। वैसे वर्तमान मे 'मैं' द्रव्य रूप हूँ क्योंकि गुण और पर्याय का धारक हूँ, कषाय रूप हूँ क्योकि काषायिक वृत्तियो से ग्रस्त होता रहता हूँ। योग रूप हूँ क्योकि मन, वचन तथा काया के योगो का व्यापार मेरे साथ निरन्तर चलता रहता है। 'में' उपयोग रूप हूँ, क्योकि उपयोग मे मेरा मूल लक्षण है। 'मैं' ज्ञान रूप हूँ, दर्शन रूप हूँ, चारित्र्य रूप हूँ एव वीर्य रूप हूँ क्योंकि अपने ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की उच्च कोटि की साधना को सफल बनाकर मैं अनन्त वीर्य का धारक हो सकता हूँ। मेरी आत्मा के ये आठो प्रकार उसके मूल एव वर्तमान स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। सभी ससारी आत्माओं की तरह द्रव्य, वीर्य, ज्ञान, दर्शन और उपयोग प्रत्येक समय मे मेरे भीतर विद्यमान रहते हैं। कषाय तब विद्यमान रहती है, जब मेरी आत्मा सकषायी होती है और योग भी तब जब वह सयोगी होती है। आत्मा को सम्यक्-दृष्टि प्राप्त होने पर ज्ञान की सुलभता होती है तो सर्वविरति मुनियों को चारित्र्य की प्राप्ति। समुच्चय मे कहा जा सकता है कि मेरी ही तरह सभी ससारी आत्माओ मे ये आठ प्रकार देखे जा सकते हैं।

ससार के ससरण एव सचरण मे अपनी इतनी सारी प्रछन्न शक्तियो के बावजूद मेरा 'मैं' अत्यन्त विचित्र हे क्योकि वह अपने आप से उतना ही विस्मृत भी है। 'मैं' जब स्व–तत्त्व को भूलकर आत्म विस्मृत बन जाता हे, तब उसका यही अर्थ लगाया जा सकता हे कि पर तत्त्वो की गहरी उलझन मेरे आत्म स्वरूप पर छाई हुई है जो उसके गुण–विकास को अवरुद्ध कर देती है। मैं अपने चारो ओर दृश्य पदार्थों को देखता हूँ और उनमे अपने सुख को खोजता हूँ तो मुझे भ्रमपूर्ण यही विश्वास होता है कि उन पदार्थों मे ही मेरा सर्व सुख समाया हुआ है। मैं तब अपने साथियो की व्यथा तथा सर्वहित को विसार कर अपने ही स्वार्थों के तग घेरों मे बद हो जाता हू। राग ओर द्वेष के उतार चढाव मेरे भीतर की शुमता को ढक देते हैं। उन वृत्तियो ओर प्रवृत्तियो से घिर कर में राक्षस बन जाता हू, समस्त सुखदायी पदार्थों को अपने और अपनो ही के लिये सचित करना चाहता हूँ। उन पदार्थों को दूसरो से छीनता हूँ और सबको अपने नियत्रण मे बद करके दूसरो के कष्टदायक अमावो पर अट्टहास करता हू। किन्तु मैं देखता हूँ कि मैं ही नही, अन्य कई मनुष्य भी मेरी ही तरह ऐसी राक्षसी वृत्ति मे उलझ रहे हैं। और इस तरह कटु सघर्ष चलता रहता है—पारस्परिक सम्बन्धों मे घोर तनाव फेलता रहता है। पदार्थों की प्राप्ति के लिये उभरती और बढती हुई यह आपाधापी आपसी अन्याय और अत्याचार में जब बदल जाती हे तब परिस्थितियॉ असह्य हो उठती हैं। दमन और शोषण के तले चारो ओर हाहाकार मच जाता है।

इस तरह होता है एक ओर कुछ ससारी आत्माओ के क्रूर पक्ष का फैलाव तो दूसरी ओर अनेकानेक आत्माओं के शोषण, दमन तथा उत्पीडन का कारुणिक दृश्य। किन्तु यही क्रूर व्यवहार, यही शोषण और दमन प्रबुद्ध आत्माओ मे नया विचार जगाता है। तब मनुष्य और मनुष्य के बीच मे समानता, स्वतन्त्रता एव भ्रातृत्व का नारा खडा होता है और मनुष्य जाति की वैचारिकता का एक नया आयाम सामने आता है, नया चिन्तन उभरता है और विकास की नई मजिले कायम की जाती हैं। वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के इस चक्र मे चैतन्य तत्त्व का ही जागना, सोना, बगावत करना तथा बुराइयो को फेक कर अच्छाइयो से अपनी झोली को भर लेना दिखाई देता है। 'मैं' ही इस वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के चक्र का प्रवर्तक होता हूँ किन्तु विडम्बना यही घटती हे कि हर बार में विकास को अधूरा ही छोड देता हूँ उसे उन्नति की सर्वोच्च ऊँचाई तक ले जाने मे असमर्थ ही रह जाता हूँ।

मैं सफलता और विफलता के हिडोले मे ही झूलता रहता हूँ–सफलता मे सर्वोच्च शिखर तक पहुँच नहीं पाता–इसी कारण ससार का ससरण निरन्तर चलता रहता है क्योकि अनेकानेक ससारी आत्माओ के साथ 'मैं' उसमे ससरण करता रहता हूँ–उससे ऊपर उठकर ससार–मुक्त हो जाने में हर बार विफल हो जाता हूँ।

मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति

'मैं' जब सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध करता हू, विकृति के विरुद्ध विद्रोह जगाता हूँ अथवा प्रतिवाद को हटा कर पुन वाद को प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ तो मेरा यह सघर्ष मूल्यो के लिये लडा जाने वाला सघर्ष हो जाता है। मेरी चेतना मे मानवीयता के जो मूल्य सस्थापित होते हैं, उनकी प्रतिष्ठा मेरा कर्त्तव्य हो जाता है क्योकि उन मूल्यो की पुन पुन प्रतिष्ठा मे ही मुझे सदाशयता का प्रसार दिखाई देता है–वह सदाशयता जो एक से दूसरे की बाह थमवाकर सबको आत्म विकास की महायात्रा मे अग्रसर हो जाने की उत्प्रेरणा देती है। यही मेरी मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति होती है।

अपने 'मैं' का यह विकास मुझे भीतर ही भीतर बहुत भाता है। मेरे मूल्य जब उपजते हैं और समाज मे साकार रूप लेते हैं तो मेरा अन्तर्हृदय खिल उठता है। इससे मेरा मस्तिष्क तनावमुक्त हो जाता है और आन्तरिकता की अतल गहराइयो मे एक असाधारण अनुभूति जन्म लेती है। यही अनुभूति मेरे भीतर तथा भीतर से बाहर ससार मे एक नव क्रान्ति जगाने में समर्थ हो जाती है।

मैं कहता हूँ कि पदार्थों के मोह से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यो की समाज मे सर्वत्र स्थापना करना इस ससार की सबसे बडी क्रान्ति है। इसी कारण सभी मानते हैं कि 'मनुष्य खाने के लिये नही जीता, बल्कि जीने के लिये खाता है' और उसका यह जीना सोद्देश्य होना चाहिये। मेरे और मेरे साथियो के ऐसे उद्देश्यपूर्ण तथा सार्थक जीवन से मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति सर्वतोमुखी बनती है। मेरा 'मैं' तब पदार्थो के ममत्व से हटकर मूल्यो के ससार में जीने लगता है और भावनाओ की भूमिका का सूत्रधार बन जाता है। मूल्यो के ससार मे जिया जाने वाला जीवन ज्यों–ज्यों गहराई मे उतरता जाता है, त्यो–त्यो नये मानव–मूल्यो की खोज आरभ हो जाती है। वह खोज ऐसे दिव्य मोती निकाल लाने मे सफल होती जाती है जो मानवो से भी आगे देवत्व के मूल्यो के मोती होते हैं। ऐसे मूल्यो के आधार पर आत्म–विसर्जन का धरातल तैयार होता है। उसे ही नवक्रान्ति की सफलता

का नाम दे सकते हें।

नव क्रान्ति किसे कहे ? नव क्रान्ति वही जो अपने 'मैं' को गहराई मे भीतर तक झकझोर दे, मूल्यात्मक चेतना को उभार दे ओर आत्मा को विसर्जन के द्वार पर खडी कर दे। विसर्जन होगा, अपने स्वार्थो का अपने राग और द्वेष के सकुचित परिणामो का और यह विसर्जन होगा अपने मूल स्वरूप के परिमार्जन के लिये–समाज मे मानव–मूल्यो पर आधारित आचरण के प्रसार के लिये। एक "मैं" ऐसा करेगा तो उसके साथ कई 'मैं" उसी आस्था और निष्ठा से उसके साथ चल देगे। तब वे सब 'मैं' मिलकर आत्मीयता के भावो से ओत–प्रोत हो एक नये समाज का निर्माण करेगे–एक ऐसे समाज का जो अपने समग्र जीवन मे अहिसा को साधन बना कर सत्य रूपी साध्य को प्राप्त करने की सबकी तत्परता को सम्पूर्णत सहयोग देगा। काश, मूल्यात्मक पृष्ठभूमि पर खडा किया गया ऐसा समाज सम्पूर्ण ससार के ससरण मे एक नया ही मोड ला दे।

मैं मानता हूँ कि मूल्यात्मक चेतना के अस्तित्व मे मनुष्य अपनी पशुता का त्याग कर मनुष्यता के सुघड श्रृगार से सज्जित होता है। केवल पदार्थो के ससार मे ही जीने वाला मनुष्य एक पशु से अधिक कुछ नहीं होता। उस दशा में वह अधा जडग्रस्त हो जाता है। जडता जितनी छूटती है–चेतना जितनी जागती है, आत्म–विकास की यात्रा उतनी ही प्रखर बनती है। बारीक नजर से देखे तो जडग्रस्तता से सम्पूर्ण मुक्ति ही आत्मा का मोक्ष होता है।

इसलिये मैं देखता हूँ कि जड–चेतन सयोग ही जब जड–चेतन सघर्ष का रूप ले लेता है, तब मेरी चेतना जागरण की अगडाइयाँ लेती है–वह चेतना जो अब तक पदार्थो के मोह मे, उनसे सुख पाने की आशाओ व लालसाओ मे सज्ञाहीन, मूर्छाग्रस्त तथा किकर्त्तव्यविमूढ बनी हुई थी। इस जड–चेतन सघर्ष मे मेरी चेतना ज्यो–ज्यो जड तत्त्व की निरर्थकता, बधन एव पतनकारकता को समझती जाती है, त्यो–त्यो वह जड को अपने इच्छा क्षेत्र से दूर धकेल देने के लिये उद्यत होती जाती है अथवा यों कहें कि मेरी चेतना तब वास्तविक अर्थो मे जड को बधन मानकर तथा महसूस कर उससे मुक्त हो जाने का प्रयास प्रारभ कर देती है। इसे ही मैं मूल्यात्मक चेतना का विकास मानता हूँ।

इस विकास का तब यह लक्षण स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि मेरी आत्म–चेतना का केन्द्रीकरण पदार्थो के केन्द्र से हट कर मूल्यों के केन्द्र पर टिकने लगता है। मूल्यो को केन्द्र मे रखकर जब सद्भावना और सन्निष्ठा से

गति की जाती है तब 'मैं' का मूल स्वरूप निखरने लगता है। तब 'मैं' के उस निखार पर मैं सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य रूप तीन रत्नो का प्रकाश फेकता हूँ तो देखता हूँ कि मेरा 'मैं' निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ चला जाता है।

'मैं' के ऐसे प्रकाशमान जीवन की सार्थकता इस तथ्य मे प्रस्फुटित होनी चाहिये कि उसके व्यक्तित्व से निकलता हुआ प्रकाश सारे पथ पर इस तरह बिखरे कि पथ भी पूरी तरह से प्रकाशित हो तथा उस पथ पर चलने वाले भी प्रकाश को अपना सहचर व मार्गदर्शक बना सके। वे आत्माएँ जो अरिहतता या वीतरागता की उच्चता का अपनी आन्तरिकता मे श्रेष्ठ विकास कर लेती हैं, वे ऐसा ही प्रकाश पाती और फैलाती हैं। मेरी आत्मा भी ऐसे ही प्रकाश की पुजारिन है। मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति से आरभ होकर सिद्धात्मा के साध्य तक पहुँच जाने को मेरी आत्मा अतीव आतुर है किन्तु उसकी आतुरता की सफलता इस तथ्य पर भी बहुत कुछ निर्भर हे कि मेरे अपने चारो ओर के समाज मे अहिसा, समानता तथा सहयोग का वातावरण कितना पुष्ट और सशक्त है। मेरा 'मैं' इस समाज सेवा के साथ साध्य तक पहुँच जाने की अपनी आतुरता को कहाँ तक फलीभूत कर पायगा—यह उसके सत्पुरुषार्थ की प्रबलता पर आधारित होगा।

मूल्यात्मक चेतना, सिद्धावस्था का साध्य तथा मेरी आत्मा का सत्पुरुषार्थ तीनो मिलकर यहा और वहाँ श्रेष्ठ परिवर्तन का बीजारोपण अवश्य करेगे।

समता के समरस मे

मैं मेरे 'मैं' के विकास को समग्र—समाज के विकास मे बदलना चाहता हूँ और समाज का विकास तभी चारितार्थ होगा जब उसका समता के आधार पर निर्माण हो। समता के समरस मे डूबने पर ही विकास के मोती हाथ लगते हैं।

जब मेरी चेतना शुद्ध मानवीय मूल्यो को प्रकट करेगी और उन्हे समाज मे सुप्रतिष्ठित करना चाहेगी तब उसके साथ मूल्यो के जगत् मे मेरी भी गहरी पैठ होने लगेगी। मैं किसी एक मूल्य को मान्यता दूगा तो मेरा दुहरा प्रयास प्रारभ हो जायगा। एक ओर तो मैं चाहूगा कि उस मूल्य को सामाजिक मान्यता मिले तथा सभी लोग उसे अपने—अपने जीवन मे उतारने की चेष्टा करे तो दूसरी ओर उस मूल्य पर मैं और अधिक गहरी खोज भी करना चाहूगा ताकि उसका सृजनात्मक पक्ष अधिकतम रूप से उजागर हो सके। मेरा ऐसा प्रयास जब सामूहिक रूप लेने लगेगा तो सच मानिये कि समता—समाज की

नींव भी पड जायेगी। ऐसे समाज का प्रमुख उद्देश्य ही यह होगा कि सभी प्राणी सच्ची सुख शान्ति तथा आत्मिक समृद्धि की दिशा मे साथ–साथ आगे बढ सके।

ऐसे समाज के पारस्परिक आचरण के केन्द्र मे होगी–अहिसा। अहिसा के मूलाधार पर ही व्यक्ति एव समूह का आचरण केन्द्रित होगा। साध्य के साथ साधन का श्रेष्ठ होना भी अनिवार्य है। मेरा अनुभव बताता है कि अधिकाशत हिसा का आचरण अज्ञान दशा मे ही होता है। एक अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं देख पाता है कि वह हिसात्मक प्रवृत्तियो मे सलग्न बनकर अपने व अपने साथ सारे समाज के जीवन को कैसे–कैसे निकृष्ट विकारो से रग देता है। समता समाज के निर्माण की भूमिका मे मैं दृढतापूर्वक मानता हूँ कि इस समाज के जीवन–व्यवहार मे स्थूल हिसा का कोई स्थान नहीं होगा। हिसा को में सर्वांशत हेय मानता हूँ–उसका किसी भी अश मे आचरण करना पडे तो वह उस आचरणकर्त्ता की दुर्बलता होगी किन्तु किसी भी रूप मे हिसा को कभी भी उपादेय नहीं मान सकते हैं। मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति के पश्चात् उन मूल्यो की सामाजिक प्रतिष्ठा का अर्थ ही यह होगा कि उन मानवीय मूल्यों पर ही सबका आचरण अधिकाधिक निर्भर करे।

इस बीच मेरे मन मे एक प्रश्न उठता है कि क्या मैं यह जाने बिना भी समाज निर्माण के कार्य मे सलग्न रह सकता हूँ कि मेरा स्वय का कोई स्थायी अस्तित्व भी है या नहीं ?

जीवनो की क्रमिकता

कोई कहे कि मैं वर्तमान मे जो हूँ, मात्र वही हूँ–न मेरा कोई अतीत है और न कोई भविष्य–तो उस कथन मे कितना महत्त्व है–यह गहराई से सोचा जाना चाहिये। जैसी कि एक मान्यता है कि पचभूतो से ही यह शरीर उपजता है तथा मृत्यु के साथ पुन पचभूतों मे मिल जाता है। यदि इस जीवन का पहले के जीवन से ओर आगे आने वाले जीवन से श्रृखला रूप सम्बन्ध न हो तो क्या किसी की इस जीवन की कार्य सम्पूर्ति मे सच्ची अभिरुचि पैदा हो सकती है अथवा बनी रह सकती है ? ऐसी विचारणा के साथ क्यो कोई स्थायी प्रभाव वाला कार्य करना चाहेगा जिसका सीधा लाभ उसे न मिलता हो ? मेरा जन्म–जन्मान्तरो का अनुभव है कि वर्तमान केवल वर्तमान ही नहीं है–वर्तमान का अतीत भी है तो उसका भविष्य भी है। और यही काल की क्रमिकता हे। उसी प्रकार जीवनो की क्रमिकता अटूट रहती है जब तक कि आत्मा ससार से मुक्ति न प्राप्त कर ले।

जीवनो की क्रमिकता याने कि जो जीवन आज है, वह इससे पहले भी था तथा आगे भी नये जीवन मे प्रादुर्भूत होगा–इस ससार का आधार स्तभ है। जीवनो की क्रमिकता का तात्पर्य है पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म की विद्यमानता। जीवनो की क्रमिकता की धारणा के साथ ही दीर्घकालीन महत्त्व के कार्य हाथ मे लिये जा सकते हें तथा उनकी सम्पूर्ति मे ठोस सहयोग दिया जा सकता है। जीवनो की क्रमिकता मात्र एक धारणा ही नही हे, अपितु वास्तविकता है। इस जीवन से भी पहले जीवन था और उसमे किये गये कृत्यो का फल आज हमे मिलता है। हमारे वर्तमान जीवन मे ऐसी कई घटनाएँ घटित होती हैं जिनके कारणो के सूत्र हमे इस जीवन मे खोजने से भी नही मिलते हैं। इससे निर्णय निकलता है कि उन घटनाओं के कारण पूर्व जन्म मे ही होने चाहिये। इसी प्रकार यह मानना भी उतना ही तर्कसगत होगा कि इस जीवन के बाद आगे भी और जीवन है याने कि पुनर्जन्म हैं जिसमे इस जीवन मे किये जा रहे हमारे कृत्यों का फल मिलेगा। इतना ही नही, जीवनो की श्रृखला अनन्तकाल से चलती आई है और तब तक चलती रहेगी जब तक कि यह आत्मा जड के साथ अपने सम्पूर्ण सम्बन्धो को विच्छेदित नहीं कर लेगी। अपने अस्तित्व की निरन्तरता की धारणा जब स्पष्ट होती है, तभी स्थायी प्रभाव वाले कार्यो मे सतत अभिरुचि बनी रह सकती है क्योकि यह विश्वास होता है कि इन कार्यो का फल भावी जीवन मे प्राप्त हो सकेगा।

मेरा अटल विश्वास हे कि 'मैं' सदा काल रहने वाला हूँ। मेरा अस्तित्व स्थायी है। मैं अजर अमर हूँ। मैं अविनाशी हूँ। मेरा यह विश्वास सत्य है क्योकि आत्म तत्त्व के रूप में मैं एक द्रव्य हूँ जो गुण रूप से शाश्वत होता है– मात्र उसकी पर्याये परिवर्तित होती रहती हैं। अत गुण की दृष्टि से 'मैं' शाश्वत हूँ, नित्य हूँ और पर्याय की दृष्टि से 'मै' परिवर्तनशील भी हू–अनित्य भी हूँ। इसका आशय यह है कि 'मैं' आत्म रूप से शाश्वत हूँ तो शरीर रूप से विनश्वर। शरीर परिवर्तित होते रहते हैं, आत्मा वही रहती है अपने पूर्वकृत कर्मो से बधी हुई।

आज मुझे यह मानव तन मिला है–पहले भी मेरी आत्मा का कोई शरीर रहा होगा और इस तन के बाद मे भी कर्म फल स्वरूप इसे कोई शरीर अवश्य प्राप्त होगा। आत्म तत्त्व की दृष्टि से मैं किसी भी शरीर मे गुणात्मक रूप से वही रहूगा बल्कि सिद्धशिला पर पहुँच कर भी वही रहूगा–जो तब नही रहेगा, वह है शरीर और उससे सलग्न कर्म समूह। जब तक मेरी आत्मा इस ससार मे विचरण करती रहेगी, पर्यायो की दृष्टि से उसके रूप परिवर्तित

होते रहेगे। आज यह आत्मा मानव तन मे स्थित है—पहले किसी अन्य शरीर मे थी या आगे किसी अन्य शरीर मे निवास करेगी—परिवर्तन का यह एक पहलू है। दूसरा यह कि कभी आत्मा घनघाती कर्मो से लिप्त हो जाती है तो कभी निर्जरा करती हुई हलुकर्मी बन जाती है। इसी प्रकार के कई परिवर्तन भिन्न—भिन्न समयो मे परिलक्षित होते हैं। ससारी आत्मा कर्मावृत्त होती है तो सिद्ध की आत्मा कर्म मुक्त। यह आत्म—स्वरूप का पर्याय भेद है। लेकिन गुण रूप से दोनो प्रकार की आत्माओ मे मूल की दृष्टि से समानता भी होती है। अत जीवनो की क्रमिकता में यही 'मैं' का स्थायी और निरन्तर अस्तित्व बना रहता है। इस वस्तुस्थिति के कारण ऐसी मन स्थिति का निर्माण होता है जिसमे मैं अपने व अपने साथियों याने कि समाज एव विश्व के दीर्घकालीन विकास के सम्बन्ध मे स्थिर मन से विचार कर सकता हूँ तथा निष्ठापूर्वक उस पवित्र कार्य मे अपने आपको सफलतापूर्वक नियोजित कर सकता हूँ।

उपरोक्त विचार के आधार पर निश्चित रूप से मेरी जिज्ञासा यह तथ्य जानने के लिये जागृत होगी कि मैं पहले क्या था, कहाँ था, क्या करता था और उन सब बातो का प्रभाव इस जीवन मे किस रूप मे दिखाई देता है ? कारण, इस जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही मैं कर्म सिद्धान्त के स्वरूप एव उसकी प्रक्रिया को भली—भाति समझ सकूगा।

मै कहाँ से आया हूँ ?

इस विषयक विश्लेषण के साथ मेरे मन मे सबसे पहले यह प्रश्न खडा हुआ है कि मैं कहाँ से आया हूँ ?

यह प्रश्न मेरे ही मन में आया हो—ऐसी बात नहीं है ? समवत यह प्रश्न प्रत्येक विचारवान् मानव के मन मे उठता होगा, तभी तो शास्त्रों और सूत्रो मे भी इस प्रश्न को उठाया गया है तथा उसका समुचित उत्तर भी दिया गया है।

कहा है—'यहाँ इस ससार मे कई मनुष्यो को होश नहीं होता जो कहते हैं कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ। में ऊपर की दिशा से आया हूँ, नीचे की दिशा से आया हूँ या अन्य दिशाओ से आया हूँ। क्योकि ऐसा कहने वाले यह नहीं समझते कि उनकी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। इसलिये विचारणीय यह है कि पिछले जन्म मे मैं कौन था, अथवा इस जन्म से आगे जाने पर भावी जन्म मे मैं क्या होऊँगा ? इसका ज्ञान मैं (अ) स्वकीय स्मृति द्वारा, (ब) अतीन्द्रिय ज्ञानियो के कथन के द्वारा अथवा (स) अतीन्द्रिय ज्ञानियो के सम्पर्क से समझे हुए व्यक्तियों के समीप से सुन कर ही प्राप्त कर सकता हूँ। मैं यदि

यह जान लेता हूँ, कि मेरी आत्मा पूर्व जन्म मे किस शरीर मे स्थित होकर किस रूप मे थी अथवा पुनर्जन्म मे किस शरीर मे स्थित होकर क्या रूप ग्रहण करेगी तो ऐसे ज्ञान से मैं अपने आत्म तत्त्व मे पूर्ण मान्यता एव आस्था रखने वाला बन जाता हूँ और मैं जब अपनी आत्मा को मानने वाला बन जाता हूँ याने कि जीव तत्त्व के अस्तित्व को मान लेता हूँ तब स्वाभाविक रूप से अजीव तत्त्व याने कि पुद्‌गल के अस्तित्व को भी मान लेता हूँ और कर्म बधन के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया को भी मानता हुआ मन, वचन एव काया के योग–व्यापार को भी मानने वाला बन जाता हूँ।

सचमुच ही ऐसा मनुष्य जो मन, वचन, काया के योग व्यापार तथा उनकी क्रियाओ को नहीं समझ पाता है, वह सभी दिशाओं अथवा अनुदिशाओ से आकर ससार की विभिन्न गतियो तथा योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है। वह सभी दिशाओ से दु:खो को भोगता है, अनेक प्रकार की योनियो से जुडता है एव अनेक रूपो मे वेदनाओ तथा पीडाओ का अनुभव करता है। उस मनुष्य के लिये ही आप्त पुरुषो ने ज्ञान दिया है। उसी ज्ञान के प्रकाश मे कोई भी मनुष्य अपने मन, वचन, काया की विविध क्रियाओ को भली–भाति समझ सकता है।

मैं आप्त पुरुषो द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान से अथवा स्वकीय स्मृति से जब जुडता हूँ तब मुझे समझ मे आने लगता है कि मैं कहॉ से आया हूँ। वर्तमान जीवन में मैं सुख एव दु:ख का जो अनुभव ले रहा हूँ, उससे मुझे मेरे पूर्व जन्म का अनुमान लग जाता है और अब जो कुछ मैं कर रहा हूँ उसके आधार पर ही मैं यह भी समझ सकता हूँ कि मेरा पुनर्जन्म कैसा होगा।

पूर्वजन्म एव पुनर्जन्म मे अपने अस्तित्व की निरन्तरता को पहचान कर में आश्वस्त होता हूँ कि मैं जो कुछ भी कृत्य इस जीवन मे करू, उसे स्थिर मन से करू क्योकि उसका शुभाशुभ प्रभाव जहॉ दूसरो पर पडेगा, वहॉ उसका शुभाशुभ फल मुझे भी अभी या बाद मे अवश्यमेव मिलेगा। मेरे मन मे इस धारणा की सम्यक् पुष्टि हो जाने के बाद मेरे कार्यकलापो मे स्थायित्व की भावना आ जाती है। इसके साथ ही स्वहित एव परहित के कार्यो की भी मुझे भली प्रकार से पहिचान हो जाती है। तब मैं पक्के तौर पर समझ जाता हूँ कि परहित मे स्वहित भी समाया हुआ रहता है क्योकि परहित तभी सम्पादित किया जा सकता है जब अधिकाश रूप से स्वहित सम्पादित कर लिया होता है। और स्वहित का सम्पादन स्व की श्रेष्ठता को साध लेने के बाद ही सभव बनता है।

यह सब समझ लेने के बाद मैं स्व के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाता हुआ परहित के कार्यो मे सलग्न होता हूँ। तब परहित की मेरी निष्ठा का इतना विकास होने लग जाता हे कि परहित के पवित्र कार्य मे यदि मुझे अपने जीवन का भोग देने का अवसर भी उपस्थित हो तो मैं उससे पीछे नही हटूगा। मैं अपना पूरा जीवन भी समर्पित कर देने के लिये तब तत्पर हो जाता हूँ, क्योकि वह समर्पित जीवन मेरी भवभावन्तरो से निरन्तर चल रही अपनी आत्म विकास की महायात्रा को अग्रगामी बनायेगा–इस सत्य से मैं आश्वस्त हो जाता हूँ। यही आश्वस्ति मुझे मुक्ति के मार्ग पर अविचल गति से आगे बढते रहने की प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

यह दुर्लभ मानव–तन

ऐसी प्रेरणा के साथ मेरे मन–मस्तिष्क मे यह बात समा जाती है कि वर्तमान जीवन सम्पूर्ण आत्म विकास की महायात्रा का एक पडाव मात्र है। पडाव वह बिन्दु होता है जहॉ ठहर कर यह सोचा जा सके कि मैं कहॉ से आया हूँ और किसलिये आया हूँ ? आगे के लिये मुझे इस पडाव पर किस प्रकार के कार्य करने हें ताकि महायात्रा अबाध रूप से चलती रहे ?

ऐसा सोचना इस कारण से भी आवश्यक है कि मैं इस पडाव का महत्त्व जान सकू और यह समझ सकू कि यहॉ के अपने कार्य–कलापो के माध्यम से पकडी गई मेरी अपनी गति मुझे साध्य की ओर ले जायेगी या नही और ले जायेगी तो उसके बीच की दूरी कितनी जल्दी कम की जा सकेगी ? इस समझ से मेरे भीतर यह सतर्कता भी पैदा होगी कि कहीं मैं आत्म–विस्मृत बनकर उद्देश्यहीनता के जगल मे तो नहीं भटक जाऊगा ?

जब मैं इस पडाव पर याने कि अपने वर्तमान जीवन मे पूरी तरह से सतर्क रहूगा तो मैं साध्य प्राप्ति की पटरी से नीचे नही उतरूगा, बल्कि उस पटरी पर अपनी चाल को तेज बनाने का भी कठिन प्रयत्न करूगा। मैं अपने कार्य कलापो का निरन्तर लेखा–जोखा लेते हुए अपने साध्य को सदैव समक्ष रखूगा ताकि उन्हे साध्य प्राप्ति के अनुकूल बनाये रख सकू। फिर पडाव मात्र पडाव ही नहीं होता, बल्कि एक पडाव से दूसरे पडाव तक पहुँचने का गतिक्रम भी होता है। अत आज में यह सोचना चाहता हूँ कि मुझे जो यह मानव–तन मिला है–पहली बात तो यह कि वह महायात्रा को सफल बनाने के उद्देश्य से दुर्लभ क्यो हे और दूसरे, यदि वह दुर्लभ है तो उसका मैं अधिकतम रूप से सदुपयोग केसे कर सकता हूँ ?

से इस ससार में परिभ्रमण
लाख योनियो तथा असख्य उप
के अनुभव लिये हैं। मेरी आत्मा
मनन की धनी बनी है। इस जीवन
हूँ, उस पर चिन्तन-मनन करके
मुझ मे क्षमता विद्यमान है। मैं
को देखता हूँ-उनके हलन-चलन
कोई भी अन्य योनि इतनी शक्तियो
मानव गति और योनि है। स्वय
हूँ तो लगता है कि उनमे भी

हो जाता है कि वास्तव मे यह
तन नही, जिसमे महायात्रा को
र्थ्य रहा हुआ हो। सामर्थ्य का अर्थ
शक्ति है जिसकी साधना किसी
है। मुझे देव-योनि का खयाल
शरीर, भौतिक ऐश्वर्य, दिव्य
वृद्धावस्था के कष्टो के अभाव मे
लिये ईर्ष्या के विषय हो सकते हैं
क्योकि मुझे इस तथ्य का सुनिश्चित
कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित
होता है और इसी कारण देवलोक
वाछा करते हैं।

आ है तो निश्चय ही वह दुर्लभ है।
निश्चय ही ऐसी दुर्लभ-समुपलब्धि
सतर्क भी हो जाना चाहिये। ऐसा
या कि ससार की मायावी उलझनो
इसकी पूरी सावधानी प्रतिपल मेरे
।

कि सुन्दर से कॉच के टुकडे को भी
है और यदि उसे बहुमूल्य रत्न
के साथ रखता है। फिर क्या

सकल्प कर लिया है ? क्या यह भी मैंने सोचा हे कि मेरे किस पुण्योदय के प्रतिफलस्वरूप ये दुर्लभ प्राप्तियॉ मुझे सुलभ हुई हैं ? कारण, इन प्रश्नो का सही विश्लेषण कर लेने के बाद ही में अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित कर पाऊगा कि अब मुझे कितनी अधिक लगन और जीवट से शुभ कार्यो मे लगना चाहिये ताकि ये दुर्लभ प्राप्तियॉ अपने आत्म विकास को उच्चतर श्रेणियो मे ले जाने की दृष्टि से अधिकाधिक सहायक बने।

मैं कल्पना कर रहा हूँ कि मेरा कोई स्नेही एक अमूल्य हीरा मेरे हाथ पर रखकर चुपचाप वहॉ से चला जाय और उस हीरे को मैं आश्चर्य से निरखता ही रहू तो उस समय मेरी क्रियाशीलता क्या होगी ? यह क्रियाशीलता मेरे अपने स्वभाव तथा उस समय मेरी जानकारी के अनुसार ही प्रकट होगी। अगर मुझे हीरे के मूल्य या महत्त्व के बारे मे सामान्य जानकारी भी नहीं होगी तो मैं झुझला कर उसे फेक दूगा यह समझकर कि मेरे स्नेही ने फालतू की चीज पकडा कर व्यर्थ ही मे मेरा उपहास किया है। यदि मुझे सामान्य जानकारी भी होगी तो मैं उसे निरख कर अपने हिसाब से ही सही–परखने की चेष्टा करूगा। परखने मे मन के विश्वास ने मदद की तो मैं उस हीरे की बहुमूल्यता समझ जाऊगा और अपने उस स्नेही के प्रति अपना आभार प्रकट करूगा। उसके बाद अवश्य ही मैं उस हीरे की सहायता से अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ बना लूगा।

इसी क्रमिकता को मैं जब मनुष्य तन के साथ जोडकर देखता हूँ तो अनुभूति जागती हे कि जो लोग अमूल्य हीरे जैसे इस मनुष्य जीवन को काच के टुकडे जैसा मान कर ससार की भौतिक सुख सुविधाओ की प्राप्ति मे ही उसका दुरुपयोग करते रहते हैं, उन पर मुझे बडी दया आती है। क्योकि वे अपने अज्ञान अथवा अपने अपौरुष की स्थिति मे इस अमोल मनुष्य जीवन की महत्ता को आक ही नहीं पाते हैं। वे मानव जीवन का ऐसा दुरुपयोग करके इस जीवन को तो विनष्ट करते ही हैं, किन्तु आत्म–विकास की दृष्टि से भविष्य को भी कटकाकीर्ण बना लेते हैं। 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' जैसे अनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके वे लोग मात्र इस तन का पोषण करने मे ही लग जाते हें–उसके पहले लगे विशेषण 'मानव' के महत्त्व को विसार देते हैं।

मेरा चिन्तन यह है कि इस तन का उतना ही पोषण करना चाहिये जितने से इसे आत्मा के पोषण एव विकास मे सार्थक दृष्टि से नियोजित किया जा सके। मानव जीवन का सही मूल्याकन करना एव उसके मूल्यानुसार

उसे वैसे कार्य मे नियोजित करना—यह विवेकशील पुरुष का कर्त्तव्य है। मैं सोचता हूँ कि जब ज्ञान के प्रकाश मे मेरा विवेक जागृत हो तो मैं वास्तविकता को समझने मे उसका पूरा उपयोग क्यो न करू ? क्यो समझते—बूझते हुए इस अमूल्य जीवन का अपव्यय करू एव मूढ कहलाऊ ?

मैं मूढ नहीं बनाना चाहता हूँ तो भला दूसरा कोई भी क्यो मूढ बनाना चाहेगा ? इसलिये आवश्यकता इस बात की भी है कि इस मानव तन एव अन्य प्राप्तियो की दुर्लभता नासमझ लोगो को भी समझाई जाय तथा उन्हे इनका सदुपयोग करने की सत्प्रेरणा दी जाय। में स्वय अपनी समझ को पक्की बनाकर यह कार्य भी करना चाहता हूँ। कारण, जो एक बार इस मानव तन के वास्तविक महत्त्व को आकना व समझना शुरू कर देना, वह इसके सदुपयोग के विषय मे भी अवश्यमेव चिन्तन करेगा। चिन्तन की तब यही परिणति होगी कि वह अपने आचरण को इस रूप मे ढाले कि जिससे आत्म विकास एव सर्व सेवा का कार्य सहज हो जाय। स्पष्ट चिन्तन के बाद ही उसका मतव्य बन जायगा कि 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।' यह मतव्य ही उसे समग्र क्रियाशीलता की दिशा मे मोड देगा। फिर तो वह आगे ही सोचेगा और आगे से आगे ही बढता रहेगा। उसकी प्रगति को कोई भी अवरूद्ध नहीं कर सकता जब तक कि उसकी सम्यक्त्व निष्ठा, अटल आस्था एव सयम साधना सुदृढ बनी रहेगी।

मैं यही सोच रहा हूँ कि कैसे मैं अपने इस दुर्लभ मनुष्य तन तथा अन्य दुर्लभ प्राप्तियो के पूर्ण सदुपयोग का दृढ सकल्प लू एव धर्म साधना मे निरत बनू ?

मानवीय चिन्तन के मोड

आत्म—विकास की इस महायात्रा मे भी कई दोराहे, तिराहे और चौराहे आते हैं जिन पर कुछ देर ठहर कर गहराई से सोचकर अपने जाने का सही रास्ता निश्चित करना होता है। यदि एक बार भी भूल हो जाती है ओर गलत रास्ते पर आगे बढ जाते हैं तो उस भूल को सुधारना कठिन कार्य बन जाता है। दोराहे तिराहे या चोराहे पर शान्तिपूर्वक यदि अपना सही मार्ग नहीं खोज पाये तो समझिये कि कई बार जितना चले हैं, वह सब भी व्यर्थ हो जाता हे बल्कि पाव नये—नये बीहडो मे उतर कर बेकाम हो जाते हैं।

मैं इन दोराहो, तिराहों या चौराहो को मानवीय चिन्तन के मोड मानता हूँ। इन बहुमार्गीय केन्द्रो पर ही साधक की परीक्षा होती हे कि वह सही मार्ग खोज पाता है अथवा नहीं। इस खोज के आधार पर ही उसके चिन्तन का

मूल्याकन किया जायगा। प्रगति का सही मार्ग खोज लेने पर ये केन्द्र मानवीय नव–चिन्तन के मोड बन जाते हैं।

सामाजिक के प्रारभ से देखे अथवा अपने स्वय के जीवनारभ से देखे और सभी तरह के विचारो के द्वन्द्वो का विश्लेषण करे तो सरलता से समझ मे आ जायेगा कि जब–जब आसक्ति और ममत्व की मूर्च्छा हमारे मन–मस्तिष्क को घेरती है, तब–तब हम अपने निजत्व को भूलकर जड तत्त्वो एव सासारिक उपलब्धियो को पा लेने मे तथा व्यक्ति–मोह को पुष्ट बनाने मे अपनी समस्त शक्तियो को नियोजित कर देते हैं। तब हमारी क्रियाएँ आत्म–विकास के विपरीत बन जाती हैं और हमारी आन्तरिकता राग–द्वेष तथा प्रमाद के कलुष से कालिमामय हो उठती है। तब हम स्वार्थ के ममत्त्व पक्ष मे गिरकर पर के प्रति अन्याय एव अत्याचार की भावना से आक्रान्त हो जाते हैं। ऐसी दशा हमारी आत्म विस्मृति होती है। यह दशा हमे चिन्तनहीन जडग्रस्तता की ओर ले जाती है। *इस दशा में चिन्तन की विपरीतता अथवा विगति उभर कर ऊपर* आ जाती है और विपरीतता या विगति मे मानवीय मूल्य दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। ऐसी मन स्थिति मे दोराहे, तिराहे या चौराहे पर सही मार्ग की खोज प्राय असफल ही रहती है।

किन्तु मेरा चिन्तन चलता है कि यदि मैं मानव जीवन के दुर्लभ महत्त्व को भली–भाति आक लू एव अन्य दुर्लभ प्राप्तियो की भी पूरी सहायता ले लू तो निश्चय ही मेरी दृष्टि सम्यक् बन जायगी और सही मार्ग की खोज भी सफल होगी क्योकि मेरी दृष्टि एव विचारणा पर आसक्ति या ममत्व की धुध जमी हुई नहीं होगी। उस उन्नत मन–मानस के साथ मैं अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान बाहर से भीतर प्रवेश करके खोजूगा और आन्तरिकता की गहराइयो मे उतर कर सुन्दर समाधान के मोती बाहर निकाल लाऊगा। वह चिन्तन और खोज मेरे लिये आनन्द के विषय बन जायेगे। मेरी आस्था है कि तब मेरा चिन्तन भी विकास की ऊँची से ऊँची सीढियो पर चढता जायेगा और समग्र जीवन को समर्पित दृष्टिकोण वाला बना देगा। फिर मैं अपने प्रत्येक कार्य के माध्यम से मानवता की कसोटी पर खरा उतरना चाहूगा और सबको एक मे तथा एक को सबमे देखने का अभ्यास करूगा। मुझे इसी चिन्तन के नये–नये मोडो से विश्व–कल्याण के नये–नये आयाम दृष्टिगत होगे।

इस दृष्टि से मैं अपना अन्तरावलोकन करता हूँ तो देखता हूँ कि अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं के हिडोले में मैंने बहुत चक्कर काटे हैं, तृप्ति

तथा अतृप्ति की काफी कुठाएँ सहन की हैं और अपनी क्रियाओ की विपरीतता के कारण मैं बाह्य जगत् की अधेरी गलियो मे बेहद भटका भी हूँ। परिणामस्वरूप में अज्ञान, आसक्ति एव मूर्छा के घेरो मे पडा छटपटाता रहा हूँ। वह छटपटाहट कब मिटी, कैसे मिटी, किसने मिटाई, यह सब कुछ मैं नहीं जानता, किन्तु सत्सयोगो ने मेरी भावनाओ की दबी हुई चिनगारी को उघाडा है और उसे वीतराग धर्म की हवा दी है। तब वही चिनगारी तेजोमय बन कर मुझे सम्यक् श्रद्धा का मार्ग दिखाती है तो सयमाभिमुख भी बनाती है।

मैंने अनुभव किया है कि चिन्तन के भिन्न–भिन्न मोड ही आत्म–जागरण की ओर ले जाते हैं और उनका अभाव ही आत्म–विस्मृति के गर्त्त मे भटक कर मुझे शून्य सा बनाता आया है। परन्तु मानवीय चिन्तन के ये स्वाभाविक मोड माने गये हें कि मनुष्य पहले अपने जीवन–निर्वाह हेतु पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयास करता हे और उस प्रयास मे जब पारस्परिक टकराव गहरे और घातक होते हैं तब उस दोराहे पर एक मार्ग पर वह आगे बढ जाता है। या तो वह परम स्वार्थी तथा क्रूर बनकर मानवता के प्रति अन्याय मे लिप्त हो जाता है अथवा उस टकराव से वह करुणा सीखता है, त्याग भाव से आप्लावित होता है एव 'सर्वभूतेषु आत्मवत्' बनना शुरू हो जाता है। किन्तु होता है यह सब चिन्तन के ही बल पर।

मैंने चिन्तन का अभिप्राय यह समझा हे कि सामने उपस्थित परिस्थितियो को विवेक के साथ समझना, साध्यगत आदर्शो के सदर्भ मे उन पर गहराई से विचार करना तथा ऐसे सोद्देश्य बन कर अपने उस समय के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करना। इस प्रक्रिया मे जितने सर्वजन हितकारी मोड आते हैं, उतना ही व्यक्ति समाज मे महान् होता जाता है। एक अवस्था यह भी आती है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को घनीभूत सामाजिकता मे तिरोहित कर देता है–वह व्यक्ति और समाज की श्रेष्ठता की अवस्था होती है।

मेरा चिन्तन चलता है कि मैं भी मानवीयता के उच्चस्थ मोडो से गुजरू और आत्म विकास की नई मजिले तय करू। इस यात्रा मे मैं दु ख ओर सुख का वास्तविक स्वरूप समझ सकूगा तथा समीक्षण कर सकूगा कि सब लोग जिसे सुख की सज्ञा देते हैं, वह भला वास्तव मे सुख है भी या नही और जिसे दु ख मानकर चलते हैं, क्या वही दु ख सही चिन्तनधारा मे आत्म–जागृति का प्रेरक नही बन जाता है ? सुख–दु खानुभव का समीक्षण अवश्य ही मुझे नया ज्ञान प्रदान करेगा।

सुख–दु खानुभव का समीक्षण

मुझे वीतराग देवो के इस वचन मे अपार आस्था हे कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दु ख कोई नही चाहता अत किसी को दु ख मत दो। इसका अभिप्राय यह हे कि ऐसे समाज का निर्माण करो जिसमे हिसा का चलन एकदम बन्द हो जाय और अहिसा ही सर्व प्रकार के आचरण का मूलाधार बन जाय। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच मूल्यात्मक चेतना की प्रबल अभिव्यक्ति के साथ ऐसा समतापूर्ण व्यवहार हो कि सारे समाज मे सुख, शान्ति एव समृद्धि का वातावरण प्रसारित हो जाय। सभी इस उक्ति मे विश्वास करने लगे कि दु ख न दो, दु ख नही होगे एव सबको अपने आचरण से सुख दो ताकि स्वय भी सदा सुख का रसास्वादन करते रहो। सुख और दु ख के अनुभव के सदर्भ मे अज्ञान होने के कारण ही व्यक्ति सिर्फ अपने ही लिये सुख का वातावरण बनाना चाहने लगता है तथा उसकी उसी स्वार्थी वृत्ति का दुष्परिणाम प्रकट होता है कि वह हिसा का आचरण करना आरम करता है। कई बार वह सामूहिक हित के लिये भी मात्र अज्ञान के कारण हिसा का आचरण करना चाहता है। हिसा का मूल ही अज्ञान होता है। इसी कारण वह यह तथ्य नहीं समझ पाता हे कि तात्कालिकता को छोड कर हिसा का दूरगामी प्रभाव सारे समाज को तथा स्वय उसको भी दु खो के महासागर मे पटक देता है।

मेरा यह अनुभव है कि श्रेष्ठ उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये भी अपनाये गये हिसात्मक कृत्य मे हिसा, हिसा ही रहेगी।

मेरा मानना है कि सुख एव दु ख के अनुभवो का समीक्षण करते समय हिसा के स्वरूप को भलीभाति समझ लेना चाहिये। हिसा का अर्थ केवल किसी भी अन्य प्राणी को प्राणविहीन करना ही नहीं है, किन्तु किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता का किसी भी रूप मे हनन करना भी हिसा की ही व्याख्या मे सम्मिलित माना गया हे। अत आप्त पुरुषो का उपदेश है कि किसी भी प्राणी को मत मारो–उसके प्राणो को चोट मत पहुँचाओ। इसका भी बडा गूढ आशय है। इस प्राणो–पाचो इन्द्रियो, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास तथा आयुष्य मे से किसी भी प्राण पर आघात मत करो। किसी का जीवन समाप्त कर देना तो हिसा है ही, लेकिन किसी की किसी भी इन्द्रिय, मन वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तक को चोट पहुचाना भी हिसा के अग माने गये हैं।

मुझे पूरी एकाग्रता से प्रत्येक समय मे अपना यह कर्त्तव्य ध्यान मे रखना है कि मैं किसी भी अन्य प्राणी के प्राणो मे से किसी एक प्राण को भी

किसी भी रूप मे किसी भी प्रकार का आघात नही पहुँचाऊ। दूसरे, इन प्राणो से सम्बन्धित किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता को भी किसी भी कारण प्रतिबाधित न करू। मैं सभी प्राणियो की सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओ का पूरी तरह सम्मान करू, बल्कि खोई हुई उनकी स्वतन्त्रताओ को उन्हे प्राप्त कराऊ। अन्य प्राणियो की स्वतन्त्रताओ को स्थायी बनाने का मैं यह अर्थ मानू कि किसी भी प्राणी पर मैं अपना शासन करने की चेष्टा न करू–किसी भी रूप मे उसे अपना गुलाम न बनाऊ क्योकि किसी भी प्राणी को सताने से उसके मन मे अशान्ति का ज्वार उठता है तथा अशान्त मन ही हिसा की राह पर मुडकर सारे समाज मे हिसा के चलन को बढाता है। एक व्यक्ति की हिसा सामाजिक हिसा का रूप लेती हुई सर्वत्र फैलने लगती है तब सारा समाज अशान्त हो उठता है। सामाजिक अशान्ति का परिणाम होता है, सामाजिक दु ख याने कि सबका दु ख। जब हिसा के वातावरण मे सभी दु खी होगे तो किसी को भी सुख कहाँ से मिलेगा ?

इसलिये मैं यह मानकर चलता हूँ कि अपने या पूरे समाज के दु ख के लिये हम ही जिम्मेदार हें या यो कहे कि इस दु ख ओर सुख के नियन्ता हम हैं। कर्मोपार्जित दु ख भी शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाय तो वह भी भावी सुख का कारण बन जाता है। इस दृष्टि से चाहे व्यक्ति के लिये हो या व्यक्ति–व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज के लिये हो, समतामय व्यवहार ही सुखानुभव की पहली और अनिवार्य शर्त है। अपने स्वय के मानसिक सन्तुलन के लिये अथवा अन्य सभी प्राणियो के प्रति आचरित किये जाने वाले समता–भाव मे ही धर्म का स्वरूप माना गया है।

इस आधार पर मेरा सकल्प बनता है कि सभी प्राणियो के बीच सभी स्तरो पर विकास का विशिष्ट अन्तर होते हुए भी मैं सभी प्राणियो के अस्तित्व को स्वीकार करू क्योकि यदि ऐसा मैं नही करूगा तो मैं अपने अस्तित्व को भी नकारूगा। अस्तित्व को स्वीकार करने का सीधा–सा अर्थ है कि उसको किसी भी रूप मे मैं नही सताऊ तथा उसको जैसी भी स्वतन्त्रता की अपेक्षा है उसे मैं बरकरार रखूं या बहाल करू। वैसी अवस्था मे अपने लिये किसी भी प्राणी का हनन कभी भी सभव नहीं होगा। सभी प्राणियो को उस रूप मे दु ख नहीं दूगा और सुख देने का यत्न करूगा जिस रूप मे मैं दु ख नही चाहता हूँ और अपने लिये सुख प्राप्त करना चाहता हूँ।

सुख जो मैं चाहता हूँ और जो सभी प्राणी चाहते हैं, उसका विश्लेषण दस भेद के रूप मे है–(1) आरोग्य (पहला सुख निरोगी काया) (2) दीर्घायु–जो

शुभ रूप हो, (3) आढ्यत्व–विपुल धन सम्पत्ति का होना (4) काम–इन्द्रियो के शुभ विषयो की प्राप्ति, (5) भोग–शुभ गध, शुभ रस तथा शुभ स्पर्श का ग्रहण, (6) सन्तोष–अल्प इच्छाओ के साथ चित्त की शान्ति, (7) आस्ति सुख–आवश्यकता के समय पदार्थ की प्राप्ति, (8) शुभ योग–अनिन्दित (प्रशान्त) भोग, (9) निष्क्रमण–सासारिक झझटो की फसावट से निकल कर सदा सुखकारी सयम स्वीकार करना तथा (10) अनाबाध सुख–जन्म, जरा, मरण, भूख–प्यास आदि बाधाओ से मुक्त मोक्ष का सुख।

उपरोक्त दस सुखो को दो भागो मे वर्गीकृत कर सकते हैं–(1) भौतिक तथा (2) आध्यात्मिक। यहाँ यह समझ ले कि इन दोनो वर्गों के सुखो मे पारस्परिक विरोध नही, अपितु सामजस्य है। आत्म धर्म का माध्यम शरीर है और शरीर भौतिक पिड होता है। इस भौतिक पिड को भी उस सीमा तक सुखी रखना होगा, जिस सीमा तक वह आध्यात्मिक साधना की सफलता का सबल सहयोगी बना रहे। सुख के पहले के पाच भेद भौतिक वर्ग के माने जा सकते हैं तो अन्तिम पाच भेद आध्यात्मिक वर्ग के। यो देखे तो पहले के पाचो सुखो की उपलब्धि के बाद ही अन्तिम पाचो सुखो की खोज और प्राप्ति अधिक सरल, स्वाभाविक तथा स्थायी होगी।

मैं कल्पना करता हूँ कि मुझे ये सुख प्रिय थे और हैं, इनकी मैं अभिलाषा रखता था और रखता हूँ तो उसके साथ ही मैं यह भी कामना करता हूँ कि ये सुख सभी प्राणियो को भी प्राप्त हो तथा इस उद्देश्य से मैं अपने समग्र आचरण को इस रूप मे सन्तुलित तथा सयमित बनाऊ कि सबको ये सभी सुख उपलब्ध कराने मे मैं किसी भी प्रकार से बाधक न बनू बल्कि सहायक और सहयोगी बनू। सबको सुख देने की मैं कामना करूगा ओर चेष्टा रखूगा और सभी इस प्रकार की कामना तथा चेष्टा से प्रेरित होगे तो भला किसी को भी दु ख क्यो होगा ?

मैं एक और स्थूल तथ्य की ओर सभी प्राणियो का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि सुख या दु ख का उद्‌भव अपने ही मन से होता है–पदार्थ या परिस्थितियाँ तो निमित्त मात्र बनती हैं और मन की एकाग्रता तथा सयमितता सधी हुई हो तो दु खपरक निमित्तो को भी सुख के कारण रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। विचार ही मे सुख होता है तथा विचार ही मे दु ख।

सवेदनशीलता का अनुभाव

दूसरे प्राणियो के मन की इच्छाओ को जानना, समझना तथा महसूस करना सवेदनशीलता कहलाती है। जो दूसरा प्राणी वेदता हे, वह मैं भी वेदू–यह है सवेदन। सवेदनशीलता के अनुभाव से आप्लावित होने पर चाहे मैं होऊ या अन्य कोई भी प्राणी हो, एक दूसरे के लिए कुछ ऐसा ठोस कार्य करने की प्रवृत्ति सजग हो उठती हे जिससे मन मे रही हुई इच्छा की सम्यक् पूर्ति हो या कि मन मे रहा हुआ दु ख दूर होकर सुखानुभव सुलभ हो। सच माने तो सवेदनशीलता से ही समता–भाव का स्रोत उद्भूत होता है।

मेरी यह निश्चित मान्यता है कि मेरे हृदय के भीतर तथा इसी प्रकार सभी मनुष्यो के हृदयो के भीतर सवेदनशीलता का अनुभाव जितना अधिक गहरा, स्वभावगत और स्थायी बनेगा, उतना ही एक अहिसक समाज का निर्माण सरल बन सकेगा। सच्चा समतामय एव सुखी समाज वही हो सकता है जिसका एक–एक सदस्य एक दूसरे के प्रति पूर्णतया सवेदनशील बने तथा अपने समस्त व्यवहार में सतत रूप से सवेदनशील बना रहे।

मैं कल्पना करता हूँ एक ऐसे समाज की कि जिसमे न शोषण हो और न अराजकता, न अनुशासनहीनता हो और न अशान्ति तथा न पारस्परिक तनाव हो और न कटुता एव सघर्ष। कैसे हो सकता है ऐसे समाज का निर्माण ?

इस परिप्रेक्ष्य में मैं वर्तमान मानव समाज की कुछ चर्चा करना चाहूँगा। कैसी परिस्थितियाँ हैं आज के इस समाज मे और किन दुरावस्थाओ मे छटपटा रहा है आज का मानव ? आज जिधर देखे उधर शोषण, दमन और अशान्ति का साम्राज्य दिखाई देता है जो निश्चय ही हिसामय आचरण से उभरा हुआ है। एक ओर बहुसख्य समुदाय बुनियादी भौतिक आवश्यकताओ तक से विहीन होकर अभावो के नित के प्रहारो से दम तोड रहा है तो दूसरी ओर निहित स्वार्थियो को छोटा समुदाय आम लोगो की मेहनत का शोषण करके अपने लिये धन और ऐश्वर्य के अम्बार खडे कर रहा है। यही नहीं, वह वर्ग अपने स्वार्थो की रक्षा मे राजनैतिक सत्ता पर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कब्जा किये हुए है जिस सत्ता से शोषण की रखवाली मे दमन का दौरदौरा भी चलाया जाता है। इन्ही आधारो पर राष्ट्र आपस मे टकराते रहते हैं जिससे सबके सामने विश्व युद्ध का खतरा मडरा रहा है। कुल मिलाकर सब जगह और सबके मन में हिसा का ताडव मचा हुआ हे। हिसा के बल पर ही अपने स्वार्थ पूरे किये जाते हैं, विषमता फैलाई जाती है और अन्याय व अत्याचार का कुचक्र रचा जाता है। सम्पन्न वर्ग शक्ति के मद मे चूर होकर हिसा का

आचरण करता है तो अभावग्रस्त वर्ग भी विवशता के विक्षोभ में अपनी असफल हिसा से पीडित रहता हे। आश्चर्य तो यह हे कि श्रेष्ठ उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भी हिसा का ही आश्रय लिया जा रहा है ओर सम्पूर्ण विश्व म हिसा का नग्न रूप आतकवाद रक्तपिपासु के रूप मे अट्टहास कर रहा है।

और आज का सामान्य जन इस महाहिसा के कुचक्र मे बुरी तरह से पिसा जा रहा है। वह छटपटाता हे कि उसका चहुमुखी दु ख असह्य हो उठा हे और उसकी अपने सुख की आशा मृगतृष्णा बन गई है। छोटे से शक्तिशाली वर्ग की अथाह तृष्णाओं के बीच मे उसका अस्तित्व तक शून्य बनता जा रहा हे। उसकी दुरावस्था पशुओ से भी बदतर हो गई है।

मैं देखता हूँ कि इस सर्वव्यापी हिसा के कारण ही आज के मानव की यह घोर दुर्दशा है। भयकर हिसा से भयावह अशान्ति फैली हुई है और जितनी अधिक अशान्ति फैलती है उतनी ही अधिक भयत्रस्तता एव अभावग्रस्तता से हिसक आचरण मे बढोत्तरी होती है। हिसा से अशान्ति और अशान्ति से हिसा का दुष्चक्र अविरल गति से घूमता ही जा रहा हे। इस समूचे वातावरण का जो सर्वाधिक घातक परिणाम सामने हे, वह है सवेदनशीलता के अनुभाव का अधिकाश अभाव।

सवेदनशीलता की डोर टूटती है तो मनुष्य मनुष्य से टूटता जाता हे—सहृदयता एव सद्भाव से हीन होता जाता है। सच कहे तो वह मनुष्यता एव मानवीय गुणो से ही हीन हो जाता है। जब मनुष्यता का ही अभाव होने लगे तो मनुष्य मे फूटने वाले 'पशु' के कदाचार को कौन रोक सकता हे ? इस दृष्टि से एक हिसक मनुष्य या समाज को परिवर्तित करने के लिये भी पुन सवेदनशीलता के अनुभाव को उभारने का सद्प्रयत्न ही करना पडेगा। समझिये कि में आज के मानव ओर मानव समाज की दुरावस्था को महसूस करता हूँ तो मुझे ही आगे बढकर सवेदनशील बनना होगा, मेरी सवेदनशीलता को दूसरो पर प्रकट करनी होगी तथा अपनी सवेदनशीलता की सहायता से दूसरो की मनोव्यथा एव पीडा मिटानी होगी। इसी प्रक्रिया द्वारा एक—एक व्यक्ति के आश्रय से सवेदनशीलता के अनुभाव का विस्तार करना होगा। इस सहृदय विस्तार को कुछ हृदयहीन निहित स्वार्थी भले ही रोकने की कुचेष्टाएँ करे लेकिन यह निश्चय हैं कि भावनाभिभूत होकर बहुसख्यक वर्ग सवेदनशील बनने लगेगा क्योकि वह समझ जायगा कि उनके व्यथित हृदयो को मिलाने तथा सुख से सुख उपजाने की डोर सवेदनशीलता का अनुभाव ही है।

आज मैं इस तथ्य को देख रहा हूँ कि मनुष्य अपने निज के दु खो को तो अनुभव कर लेता है किन्तु दूसरो के दु खो के प्रति वह सवेदनशील नही बन पाता है। उसकी यह वृत्ति धीरे–धीरे उसे क्रूरता की तरफ धकेलती रहती है जिसके कारण वह दूसरो के सुखो के प्रति आक्रामक भी हो जाता हे। तब उसमे राक्षसी वृत्ति खुल कर खेलने लग जाती हे। यही वातावरण हिसा को सर्वत्र उमाडता हे। सवेदनशीलता का अभाव ही हिसा का मूल है तो सवेदनशीलता का सद्भाव मनुष्य या समाज को अहिसा की ओर मोडता है। जब दूसरो के दु ख भी हमे अपने जेसे लगने लगे, जब दूसरो का रोना चिल्लाना भी हमे अपने रोने और चिल्लाने के समान महसूस हो तो उस समय समस्त वृत्तियॉ तथा प्रवृत्तियॉ अवश्य ही अहिसामय आचरण की दिशा मे अग्रसर बनेगी। यह मान्य सिद्धान्त है कि अहिसा को जीवन के समग्र विचार एव आचार मे उतार लेने के बाद स्वत ही समतामय समाज की आधारशिला पड जायेगी क्योकि प्रत्येक मनुष्य अपने साथियो एव समस्त प्राणियो के सुख–दु ख के प्रति पूर्णत सवेदनशील होगा।

मैंने कई बार इस वातावरण मे सुखानुभूति ली है कि चाहे परिवार मे हो, समाज में हो या राष्ट्र मे–यह विचार ओर व्यवहार सुख उपजाता है कि वहॉ प्रत्येक सदस्य अपने से भी ज्यादा दूसरे सदस्य के सुख–दु ख का ख्याल रख रहा हे। ऐसी निष्ठा के बावजूद भी यदि दु ख नही मिटाया जा सकता हे तब भी वह दु ख दु ख की भाति नही अनुभव किया जाता क्योकि सवेदनशीलता का सुख उसमे समाया हुआ होता है। सबकी मान्यता यही रहती है कि कर्मफल के उदय से जो दु ख भोगना होता है वह तो उस मनुष्य को भोगना ही पडेगा किन्तु उस समय मे उसके साथियो की जो सवेदनशीलता और सहानुभूति उसे प्राप्त हो जाय या होती रहे तो वह उस दु.ख को धैर्य और शान्तिपूर्वक सहन कर सकेगा और ऐसा करके वह भावी दु खो के मूल को ही समाप्त कर सकेगा। इस प्रकार यह सवेदनशीलता का अनुभाव मनुष्य के और समाज के दु खो को कम करने तथा भावनात्मक दृष्टि से दु खो का मूल ही समाप्त कर देने के लिये एक रामबाण औषधि है।

मनुष्य की क्रियाओ के प्रयोजन

यह सही है कि सवेदनशीलता का अनुभाव सर्व जन दु ख निवारण के लिये एक रामबाण औषधि है। किन्तु मात्र किसी ओषधि के पास मे हाने से रोग का निवारण नही हो जाता है। रोग के निवारण के लिये विधिपूर्वक उस ओषधि को ग्रहण करने की क्रिया करनी होती है। उसी प्रकार सवेदनशीलता

स्वत ही प्रसारित और विस्तारित नही हो जाती है। इस अनुभाव के प्रसार ओर विस्तार के लिये मनुष्यो को अपनी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो से विधिपूर्वक विभिन्न क्रियाएँ करनी होगी ओर सम्पूर्ण हार्दिकता से उन्हे सफलता के शिखर पर पहुँचानी होगी। समुच्चय मे माने तो मनुष्य की क्रियाओ का केन्द्रीकृत प्रयोजन यही होना चाहिये कि वह अपने हृदय मे तथा अपने साथियो के हृदयो मे सवेदनशीलता के अनुभाव का सचार करे।

मनुष्य की क्रियाओ के प्रयोजन क्या होने चाहिये--यह दूसरी बात है। मैं पहले यह बताना चाहता हूँ कि प्राकृतिक ढग से ऐसे प्रयोजन कौन से होते हें। में ही अपने लिये सोचू कि प्रारभ मे ही मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं हो जाता हे अत मैं भी अपने मन, वचन तथा काया की क्रियाओ की सही दिशा नहीं समझता था। इस जन्म मे ही नहीं, पहले के कई जन्मो मे भी ऐसा ही होता रहा है कि मुझे अपनी क्रियाओ की न तो सही दिशा का ज्ञान था और न ही मैं उनके प्रयोजनो को भलीभाति समझता था। इस अवस्था का मेरी आत्मा की कर्मबद्धता पर दूरगामी प्रभाव पडता रहा और मेरा अनेक योनियो मे जन्म--मरण चलता रहा।

में इस जन्म के प्रारभ मे भी अपने मन, वचन एव काया की क्रियाओ को इन प्रयोजनो के लिये सचालित करता रहा कि (1) में अपने वर्तमान जीवन की रक्षा कर लू, (2) मैं दूसरो से प्रशसा, आदर तथा पूजा पाऊ एव (3) मैं भावी जीवन की उधेडबुन और वर्तमान मे मरण--भय से त्रस्त होकर परम शान्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील बनू व दु खो को दूर कर दू। इन प्रयोजनों के कारण ही मुझे क्रियाओ का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु खेदपूर्वक में यह स्थिति स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैंने और मेरी तरह अन्य प्राणियो ने क्रियाओ के प्रयोजनो का ज्ञान होने के बाद अज्ञानवश उन प्रयोजनो की पूर्ति के लिये हिसा को ही साधन के रूप मे ग्रहण किया। हिसा के तीनो रूप काम मे लिये गये-- हिसा की गई, हिसा करवाई गई तथा हिसा का अनुमोदन किया गया।

जो प्रयोजन ऊपर अकित किये गये हें, इस ससार मे मनुष्यो की क्रियाएँ इनकी पूर्ति हेतु ही अधिकाशत सचालित होती हैं तथा इन प्रयोजनो की अपेक्षा से ही मनुष्यो की क्रियाओ का मूल्याकन किया जा सकता है। जैसे हम प्रयोजन स 1 को ले ले। मैं जब यह सोचता हूँ कि मैं अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करू तो यह प्रयोजन कोई अनुचित नही है, कारण वर्तमान जीवन की रक्षा पर ही मेरा भावी आत्म--विकास आधारित रहेगा। यह एक

प्रकार से ऐहिक जीवन की कामना है। प्रयोजन स 2 भी ऐहिक कामना का ही रूपक हे कि मुझे प्रशसा, आदर और पूजा चाहिये। वाछनीय तो यह है कि में अपने सत्कार्यो तथा सत्प्रयासो को प्राथमिकता दू और प्रशसा, आदर आदि के बारे मे न सोचू। किन्तु यह कामना वहॉ तक भी क्षम्य मानी जा सकती है कि मैं अपनी इस कामना की पूर्ति वस्तुत अपने सत्कार्यों व सत्प्रयासो के आधार पर ही करता हूँ। प्रयोजन स 3 के अनुसार मैं परम शान्ति प्राप्त करू तथा दु खो को दूर करू–यह सर्वथा उचित है किन्तु मात्र उधेडबुन और भयत्रस्तता से उस दिशा मे मुडू उसकी अपेक्षा सम्यक् ज्ञान तथा उन्नत विवेक से उस दिशा मे अग्रसर बनू–यह अधिक समीचीन रहेगा।

मेरी इन प्रयोजनो की पूर्ति हेतु सचालित की जाने वाली क्रियाओ के मूल्याकन मे एक विशेष बात का भी मुझे ध्यान रखना होगा कि उस समय मैं येन केन प्रकारेण वह प्रयोजन पूरा कर लेने का ही यत्न करता हूँ अथवा इसकी पूरी सतर्कता रखता हूँ कि उस प्रयोजन की पूर्ति मे सचालित की जाने वाली प्रत्येक क्रिया का रूप तथा अपनाया जाने वाला प्रत्येक साधन शुद्ध और अहिसक भी होना चाहिये। जब–जब भी इस ओर से मैंने ऑखे मूदी है तो मेरे पैर बराबर बहके हैं और वे मेरी गति को पीछे मोड ले गये हें। कई बार ठोकरे खाकर ही मैं सही चेतावनी ले सका हूँ कि इन प्रयोजनो की पूर्ति हेतु विधियुक्त क्रिया एव अहिसक साधन ही काम मे लिये जाने चाहिए, इनकी पूर्ति ऐहिक कामनाओ के वशीभूत होकर नहीं करनी चाहिये तथा बिना अन्य प्राणियो के हितो को किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाये बिना इनकी पूर्ति हेतु एक सीमा तक ही आगे बढना चाहिये।

क्रियाओ की विपरीतता

इन विभिन्न प्रयोजनो की प्राप्ति के लिये क्रियाऍ करने वाले मनुष्यो के सामने एक बडा खतरा भी मडराता रहता है। खतरा यह कि वह इन प्रयोजनो को अपने ही स्वार्थों के घेरे मे केद कर लेता हे याने कि वह कामना करता है कि कुछ भी करके वह 'अपने ही' जीवन की रक्षा करे जोड–तोड मिलाकर झूठी ही सही लेकिन अपने लिये प्रशसा, आदर ओर पूजा प्राप्त करे अथवा अन्य प्राणियों के हितो को कुचल कर अपने लिये शान्ति या सुख हथियाने की कुचेष्टा करे। जब प्रयोजन ही समझे जायेगे किन्तु उनके सदाशय को एव प्राप्ति की क्रिया की शुमता को ध्यान मे नही लिया जायेगा तो वैसे मनुष्य के कदम निश्चय ही हिसा की ओर बढेगे। फिर वह विभिन्न प्रयोजनो की प्राप्ति के लिये विभिन्न जीवो की बेहिचक हिसा करेगा, हिसा

करवायेगा ओर हिसा का अनुमोदन करेगा। सम्यक् ज्ञान के अभाव मे यह जो गलत मोड पकड लिया जाता है तब क्रियाओ का स्वरूप भी बदल जाता हे। वे हिसक क्रियाएँ बन जाती हैं। इस स्वरूप विकृति को ही क्रियाओ की विपरीतता का नाम दिया गया हे।

मेरा अपनी ही क्रियाओ की आलोचना से तथा अन्य प्राणियो की क्रियाओ के विश्लेषण से यह मत बनता है कि हिसा के रूप में प्रकट होने वाली इस प्रकार की क्रियाओ की विपरीतता सदैव मनुष्य के अपने आत्मविकास तथा मनुष्य समाज के स्वास्थ्य के लिये अहितकारी होती है। हिसा वृत्ति एव प्रवृत्ति को अपनाने से मनुष्य एव समाज की आध्यात्मिकता को भी गहरा आघात लगता है। मेंने महसूस किया हे कि हिसा के महाद्वार से ही मोहजन्य वृत्तियॉ प्रवेश करती हें ओर तव आत्मा बधनग्रस्त होकर अमगल के अरण्य मे भटक जाती है। यह में जानता हूँ कि हिसा का यह एक ही रूप नहीं होता कि किसी जीव का वध कर दिया किन्तु ये सभी हिसक कार्य कहलायेगे कि प्राणी के दस मे से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाई, उसे अपना गुलाम बनाने की चेष्टा की अथवा उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे अपना सेवक बना लिया। ये सारे हिसक कार्य क्रियाओ की विपरीतता के ही लक्षण होते हैं। कारण, हिसा ही क्रियाओ की विपरीतता का मापदड है।

में उपरोक्त प्रयोजनों को क्रिया की विपरीतता के साथ जोडू तो उनका यह रूप बनेगा कि में जिस भी कदर जितनी हिसा होगी करूगा ओर अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करूगा। जैसे कि एक तानाशाह अपनी जीवन रक्षा मे अनगिनत मनुष्यो का खून बहा देने से भी नही हिचकता हे। में अपने मायावी कुचक्र चलाऊगा, सत्य का कठ दबाऊगा ओर झूठे आधारो पर जोर जवरदस्ती से ही सही पर अपनी पूजा करवाऊगा। में अपनी क्रियाओ की विपरीतता के कारण परम शान्ति पाने तथा दु ख दूर करने के प्रयोजन के लिये भी सही उपाय काम मे नहीं लूगा वल्कि लालसाएँ और सग्रह बढाकर या हिसा से शासन चला कर शान्ति और सुख प्राप्त करने का गलत यत्न करूगा। निश्चय हे कि हिसा से में किसी भी प्रयोजन की वास्तविकता तक नहीं पहुँच पाऊगा।

अत क्रियाओ की इस विपरीतता से मुझे सबक लेना होगा ओर अन्य प्राणियो को भी समझना हागा कि विपरीत क्रियाओ से सही प्रयोजन कभी पूरे नही होगे। इनसे मात्र अशान्ति ही बढेगी। मुझे चिन्तन करने से बोध हुआ है कि जहाँ क्रियाओ की विपरीतता का मापदड हिसा है, वहीं क्रियाआ के

आचित्य का मापदड अहिसा है। मैं अपनी हिसात्मक क्रियाओ को दृष्टा–भाव से देखने के बाद ही जान सका हूँ और यही भाव अपनाने के लिये मैं अन्य प्राणिया से भी निवेदन करता हूँ क्योकि दृष्टा–भाव से हिसा उसके हिसा रूप मे समझ मे आ जाती है तथा एक बार हिसा को हिसा रूप मे समझ लेने के बाद उसे त्याग देने की इच्छा बलवती हो जाती हे।

इस प्रकार जीवन के इस दोराहे को यो समझे कि एक राह है हिसा की और दूसरी राह हे अहिसा की। जो अहिसा की राह पर बढ चलते हैं तो जीवन मे अहिसा का विकास हो जाता है ओर प्रयोजनो की सम्यक् पूर्ति की वस्तुस्थिति बन जाती है। किन्तु क्रियाओ की विपरीतता से जिसके कदम हिसा की राह पर बढ गये और बाद मे वह अपने कदम इस राह से नही हटा सका तो समझिये कि उस का भीषण दुष्प्रभाव उसके स्वय के जीवन पर ही नही पडता बल्कि उस दुष्प्रभाव से उसके निकट का सामाजिक क्षेत्र भी कलुषित हुए बिना नही रहता।

वैयक्तिक एव सामाजिक प्रभाव

मेंने देखा है कि क्रियाओ की समुचितता अथवा क्रियाओ की विपरीतता का अपना–अपना प्रभाव दूरगामी होता है जो उन क्रियाओ के कर्त्ता के अलावा सारे समाज पर भी न्यूनाधिक रूप मे अवश्य पडता है। यह तो निश्चित ही हे कि उन क्रियाओ का कर्त्ता उनसे पूर्णतया प्रभावित होता ही है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ व्यापक रूप से वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रभाव छोडती हैं।

एक बात और कि ससारी मनुष्य का मूल बुराई मे रहा हुआ होता है जिस कारण अच्छाई की अपेक्षा बुराई जल्दी ओर ज्यादा फेलती है। इस दृष्टि से क्रियाओ की विपरीतता का दुष्प्रभाव स्वय पर ओर लोगो पर तेजी से फैलता है। एक व्यक्ति जब अपनी क्रियाओ की विपरीतता के कारण हिसापूर्ण कार्यो मे प्रवृत्त होता है तो वह उस हिसा के द्वारा अपने ही स्वार्थो की पूर्ति करना चाहता है। उसकी इस चेष्टा मे वह अन्य प्राणियो के हितो को कुचलता है। तब वह अपने दया भाव को छोडता रहता हे तथा क्रूर बनता जाता है। अपने क्रूर व्यवहार से वह अपने लिये अधिकाधिक सम्पत्ति एव सुख सुविधाओ की सामग्री का सग्रह करता है। उस सग्रह के प्रति तथा उस सग्रह के सहायको के प्रति उसका राग भाव प्रबल होता है तो उसमे बाधा डालने वालो के प्रति द्वेष भाव से वह ग्रस्त हो जाता है। राग और द्वेष की प्रबलता से वह मोह, ममत्त्व तथा स्वार्थपोषण के घेरो मे बद हो जाता हे। यही उसका

जटिल मूर्च्छा भाव बन जाता है। उस समय वह मानवीय गुणो को भुला देता है, बल्कि आत्मविस्मृत भी बन जाता है। उसकी वह आत्मविस्मृति उसके निकट सम्पर्क मे रहने वाले व्यक्तियो मे पहले और उन व्यक्तियो के माध्यम से सारे समाज मे अपना कुप्रभाव फेलाती रहती है याने कि अधिकाधिक व्यक्ति हिसा का आचरण करने लगते हैं और मोह–ममत्व के वशीभूत होते हुए मूर्च्छा को प्राप्त होते रहते हें। इस प्रकार फैलता हुआ राग–द्वेष का दावानल समाज के स्वस्थ विकास को भस्म करता रहता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि मैं भी ऐसे दावानल मे जला हूँ क्योकि उस समय क्रियाओं की विपरीतता मेरे व्यक्तित्व की अग रूप बन गई थी। हिसा से मेरा व्यक्तित्व विकृत हो गया था तथा मेरे जीवन का दु खात्मक आधार बन गया था। मेरे जीवन की ऊर्जा ऊर्ध्वगामी होने की बजाय अधोगामी बन गई थी। मुझे प्रतीत हुआ कि हिसापूर्ण आचरण से ऐसी पतनकारक दशा बनती ही हे, फलस्वरूप मेरी चेतना सिकुडकर अनुभूतिशून्य ही बनने लगी थी।

स्व–स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा

अपनी चेतना की अनुभूति–शून्यता से में भूल गया कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप क्या हे, उसके निज गुणो की शुभता कैसी होती हे तथा आत्मा के वर्तमान स्वरूप को क्रियाओ की समुचितता, अहिसा की कार्यन्वितता एव मानवीय पुरुपार्थ की सक्रियता से किस प्रकार परमोज्ज्वल बना सकते हैं ? में तो तब मनुष्य से भी पशु ओर पशु से भी राक्षस बनता जा रहा था, क्योकि मेरी अधिकाश वृत्तियॉ ओर प्रवृत्तियॉ सासारिक पदार्थो के आसक्ति भाव मे डूबकर मूर्च्छाग्रस्त हो रही थी। मुझे ज्ञान ही नही रह गया था, यह ज्ञान करने का कि जिस राह पर में चलने लगा हूँ, वह मुझे कोनसे महाविनाश के गर्त्त मे पहुँचा कर जन्म–जन्मान्तरो के चक्र मे तिरोहित कर देगी ?

मेरी यह ज्ञान चेतना विलुप्त सी हो गई थी कि स्व–स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा है। मूर्च्छितावस्था मे में यह नही जान सका कि मुझे ससार मे अपनी आत्म विकास की महायात्रा चलाते हुए मात्र जल पीना चाहिये, किन्तु मैं तो मोह मदिरा पीकर मतवाला हो गया था। उस मतवालेपन मे मैंने कितने प्राणियो के हितो को कुचला, कितनो का अनिष्ट किया, कितनो के प्राणो का हनन किया, मुझ को कुछ भी याद नहीं हे। में स्व–स्वरूप को ही विस्मृत कर गया तो भला मुझे अपना वह राक्षसी रूप याद भी केसे रहता ?

मैंने अपनी विपरीत क्रियाओ से अपने स्व–स्वरूप पर कर्मबधनो के काले लेप चढाये, सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण में विपमता का विष घोला और

नारकीय परिस्थितियो का निर्माण कर दिया। मैं अपनी अशुभता के ऐसे दलदल मे फस गया था कि इस गदे कीचड के छींटे सब ओर फेल रहे थे। मेरी निकृष्ट व्यक्तिगत अवस्था ने सामाजिक परिस्थितियो मे भी दु खो के द्वन्द्व खडे कर दिये थे। मैं परिग्रह के सग्रह में अधा बना हुआ था तो परिग्रह के मोह को मैं चारो ओर भी फैला रहा था। मैं अपने आत्मिक अस्तित्व तक को भी भुला चुका था और समझ बैठा था कि यह ससार ही मेरे लिये सब कुछ है, अत अपने शरीर का ही पोषण करू, अपना ही आधिपत्य बढाऊ और अपने को ही सम्पत्ति तथा सत्ता के शिखर पर चढा दू।

वास्तविक रूप मे स्व–स्वरूप तथा स्व–अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है–यह सत्य मैं बहुत बाद मे जान पाया, जब उस मूर्च्छा के कुप्रभाव से प्राप्त दु खो के अपार बीहड को ठोकरें खाते, लहूलुहान होते और साघातिक आघातो से खोई हुई चेतना के कुछ–कुछ जागते हुए पार कर पाया। तब मैंने महसूस की थी अशान्ति की घोर पीडा, जागरूकता की अस्तित्वहीनता ओर समता भाव की दरिद्रता, क्योकि तब मेरी चेतना जागृति की करवट लेने लगी थी।

जागृति की उस धीमी सी करवट मे ही मुझे अनुभूति हुई थी तथा मैं अपने विकृत अतीत पर एक नजर फेक सका था। मुझे तब प्रतीत हुआ था कि मैं अपने आप से छिटक कर कितना दूर मूर्च्छितावस्था मे गिरा हुआ था। मैं स्व–स्वरूप के विस्मरण के साथ ही अहिसा पर आधारित मूल्यो तथा अध्यात्म के ज्ञान को भूल चुका था और इन्द्रियो व मन के घृणित विषयो मे ग्रस्त हो गया था। काम भोगो की लालसाओ मे मेरी आसक्ति बहुत गहरी थी ओर में अपनी लालसाओ को पूरी करने के लिये कुटिल आचरण मे रत रहता था।

तब में यह सोच–सोच कर ग्लानि से भर उठता था कि मैं वीतराग देवो की आज्ञा के विरुद्ध चला तथा स्व–अस्तित्व को विसार गया। अपनी विपरीत वृत्ति के कारण में दु ख देने वाले तत्त्वो को सुख देने वाले तथा सुख देने वाले तत्त्वो को दु ख देने वाले समझने लगा था और अज्ञानवश शुभ को अशुभ तथा अशुभ को शुभ मानने लगा था। मेरी विषयो में लोलुपता तथा पदार्थो मे आसक्ति इस कदर बढ गई थी कि में हिसामय आचरण, राग–द्वेष, वैर–विरोध ओर मोह–ममत्व की अधी गलियो मे बुरी तरह भटक गया। मूर्च्छा से अधा बनकर मैं अपनी वासनामय इच्छाओ की पूर्ति के लिए प्राणियो को मारने वाला, छेदने वाला, उनकी स्वतन्त्रता को कुचलने वाला तथा उनको हर तरह

से आघात पहुँचाने वाला बन गया था।

मैं अपनी उस मूर्च्छाभरी दुरावस्था को याद कर–कर के पश्चात्ताप करता हूँ कि जब मेरी इच्छाएँ तृप्त नही होती थी तो में और अधिक निर्दयी हो जाता था। में अधिक शोक सन्तप्त होता था, अधिक क्रोध करता था, अधिक प्रतिशोध लेता था और अन्य प्राणियो को अधिक सताता था। सतत हिसा के क्षेत्र मे कुकार्यरत रहने के कारण मै अधिक भयभीत भी रहता था। प्रमाद की गहराई मे डूबकर में मानसिक तनावो से त्रस्त रहता था, किन्तु दोगला व्यवहार करता था। बाहर से मैं अपने आपको बहादुर और निर्भीक जाहिर करता था जबकि हर समय मैं चारो ओर के भय से डरा हुआ रहता था। बाहर से अपने को शान्त दिखाने का ढोग करता था जबकि भीतर के तनाव मुझे प्रतिपल अशान्त बनाये रखते थे। दुनिया के सामने मेरे द्वारा दिखाया जाने वाला ढोग ऐसा ही था जैसे कोई रस्सी से बधी चालनी को कुए मे डाल कर वहा से पानी निकालते रहने का ढोग करे। वस्तुत में ससार रूपी प्रवाह मे तैरने के लिये कतई असमर्थ हो गया था। इसका कारण साफ था कि मैं सदा और सर्वत्र जघन्य कामभोगो का ही अनुमोदन करता रहता था जिसके परिणाम स्वरूप मैं दु खो के भवर मे ही गोते लगाता रहता था। मेरी चेतना की निरन्तर विकसित होती हुई उस जागृति ने मुझे आत्मालोचना की शिक्षा दी और मूर्च्छित मनुष्यो के ससर्ग से बाहर निकल जाने की मुझे प्रेरणा दी और इसी प्रेरणा ने मेरी गति को नया बल दिया कि वह आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढे।

में आज स्वानुभव के आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मनुष्य जब अपने ही मूल स्वरूप तथा अपने ही अस्तित्व को भूल जाता है तब वह वे सब अनर्थ करने पर उतारू हो जाता है जो उसे सासारिकता की विकृत परतो मे समेट लेते हैं। वह स्वय भी मोह–ममत्त्व से लिप्त होकर तथा राग–द्वेष व प्रमाद के बधनो से बधकर इतना मूर्च्छा–ग्रस्त हो जाता है कि कालिमामय उन परतो को छेद कर उसका पुन बाहर आना असाध्य नही तो दुसाध्य अवश्य हो जाता है।

मैंने इस सत्य को भी जाना है कि इस ससार की दलदल में फसे हुए लोगो मे से कुछ मनुष्य ऐसे सवेदनशील होते हैं जो किसी भी निमित्त से जागृत होने वाली अपनी चेतना के बल पर अपनी मूर्च्छा को अन्ततोगत्वा तोड ही देते हैं। एक बार मूर्च्छा टूटती है और आदमी अपने आपे मे आता है तो उसके ज्ञान ओर विवेक के द्वार भी खुल जाते हैं। फिर यह उसकी जागती

हुई चेतना के बलाबल पर ही निर्भर करता है कि आत्म विकास की महायात्रा मे उसकी गति का क्या स्वरूप बनता है।

अज्ञान, आसक्ति और ममत्व

मैं आज जब अपनी आत्मालोचना के क्षेत्र मे खडा हूँ तो मैं चाहता हूँ कि अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व की अपनी कुठाओ को याद करू, उनकी पतनकारी पकड से चेतू तथा इन आत्मघाती वृत्तियो से अपने साथियो को भी सावधान बनाऊ।

मुझे याद है कि अज्ञान का अधेरा कितना विकट होता है। उसमे आखे खुली हुई हो तब भी देख पाना सभव नहीं होता। हाथ पैरो के मजबूत होते हुए मी वे गड्ढे मे गिरा कर हड्डियॉ तुडवा देते हैं। न जानना इतना बडा खतरा होता हे जो मौजूद सामर्थ्य को भी समाप्त कर देता हे। अज्ञान सामर्थ्य घातक होता है। अज्ञानवश हम भूल जाते हैं कि आयु बीत रही है, यौवन समाप्त हो रहा है, फिर भी कामभोगो की आसक्ति मे और सासारिक सम्बन्धो व पदार्थो के ममत्व मे फसे रहते हैं। बुढापे के असह्य कष्ट हमे चारो ओर से घेर लेते हैं, मौत आ जाती है तब हम हतप्रभ से रह जाते हैं कि हमने यह क्या कर दिया ? महान् पुण्योदय से जो दुर्लभ मानव जीवन एव अन्य दुर्लभ प्राप्तियॉ मिली थी, उन्हे हमने निरर्थक ही खो दी हैं। मृत्यु के मुख मे किये हुए उस पश्चात्ताप से मानव जीवन पुन नही लौट पाता और हम एक महान् अवसर को खो देते हैं।

मेरी धारणा बन गई है कि स्व–स्वरूप एव स्व–अस्तित्व के प्रति उपजा हुआ अज्ञान ही मनुष्य को आसक्ति के विकार की ओर धकेलता है। ससार के कामभोगो मे लिप्त हो जाने का नाम ही आसक्ति है। यह आसक्ति आत्मगुणो का विनाश करने वाली होती है। रूप मे तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य उसी प्रकार असमय मे ही विनाश को प्राप्त होता है जिस प्रकार रागातुर पतगा दीपक की लौ मे मूर्च्छित होकर अपने प्राणो से हाथ धो बैठता है। सगीत मे मुग्ध होकर अतृप्ति के साथ मारे गये हिरण के समान शब्दो में अत्यन्त आसक्त बना मनुष्य अकाल मे ही विनष्ट हो जाता है। गध मे रखी जाने वाली तीव्र आसक्ति मनुष्य को नागदमनी की सुगध मे गृद्ध होकर बिल से बाहर निकल आने पर मारे गये सर्प के समान मृत्यु का मुख देखना पडता है। रागवश मास के स्वाद मे मूर्च्छित हुई मछली जैसे काटे मे फसकर मारी जाती है उसी प्रकार रसो के आस्वादन मे गहरी आसक्ति रखने वाला मनुष्य अपनी मौत खुद बुलाता है। मनोहर स्पर्शो मे तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य

रागवश शीतल जल मे सुख से बेठे हुए भॅसे का मगर द्वारा मारे जाने के समान अपने प्राणों को खो देता है। काम—वासना में गृध्र बन कर हथिनी का पीछा करने वाला रागाकुल हाथी जिस दयनीय दशा से रणस्थल पर मारा जाता हे, उससे भी अधिक दयनीय दशा मे विषयातुर मनुष्य अपनी जीवन लीला समाप्त करता हे। इस प्रकार इस लोक मे जो मनुष्य सासारिक सुखो के पीछे पडे रहते हें, परिग्रह, सग्रह, रसास्वादन एव स्पर्श सुखो मे तीव्र आसक्ति रखते हें तथा काम—भोगो म मूर्च्छित बन जाते हें, वे कायर और धृष्ट कहलाते हैं। ऐसे मनुष्य धर्म ध्यान रूपी समाधि को नही समझते, श्रेष्ठ अनुष्ठानो का सेवन नहीं करते और गहरी आसक्ति की तेज मदिरा से मूर्च्छित बने रहते हैं।

में श्रद्धापूर्वक आप्त वचनो का स्मरण करता हूँ जहॉ कहा गया है कि यह मूर्च्छा ही ससार है। यहॉ पर जो मूर्च्छित मनुष्य है, वह दुष्चरित्रता का स्वाद लेने वाला तथा कुटिल आचरण करने वाला है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मूर्च्छा ही परिग्रह हे अर्थात् धन सम्पदा के प्रति जो ममत्व भाव होता है—भाव परिग्रह वही है पदार्थ परिग्रह गौण होता है। इन दोनो ही परिग्रह से मुक्त होना आवश्यक है।

मैंने अज्ञान से आसक्ति तथा आसक्ति से ममत्व की प्रक्रिया देखी हे। सम्यक् ज्ञान के अभाव मे मनुष्य की क्रियाएँ समुचित रूप ग्रहण न करके विपरीत हो जाती हे और वह विपरीतता ही आसक्ति को पनपाती है। मन और इन्द्रियो द्वारा भोगी जाने वाली विषयवस्तुओ मे वृद्धि को ही आसक्ति कहते हैं अत आसक्तिवश उपजने वाली लालसाओ की पूर्ति के लिये सम्पत्ति और सत्ता की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति के लिये मनुष्य धन सम्पत्ति प्राप्त करने की दौड भाग करता है। उसके मन मे ममत्व भाव बडा गहरा हो जाता है। आसक्ति की मूर्च्छा ममत्व की मूर्च्छा के साथ मिल कर बेहोशी को दस गुनी बढा देती हे। वैसी दशा मे मनुष्य इस ससार मे सम्पत्ति और सत्ता पाने की होड मे बेतहाशा भागने लगता है। वह ममत्व ही उसके मन मे बसा हुआ जटिल परिग्रह वन जाता है। वह बावरा हो उठता है कि चाहे क्रूर से क्रूर साधन हो, वह सम्पत्ति और सत्ता अर्जित करे, लोगो पर अपनी हकूमत चलावे और अपनी पूजा व प्रतिष्ठा करावे। अज्ञान, आसक्ति और ममत्व की त्रिपुटी मनुष्य की चेतना को शिथिल ओर म्लान बना देती है, समाज मे तृष्णा का ज्वर फैलाती है ओर उस आत्मा को कर्मबधन मे जकड लेती है।

सांसारिकता के बीज · राग—द्वेष

अज्ञान आसक्ति और ममत्व का विषवृक्ष जो दिखाई देता है उसका ही दूसरा नाम ससार कहा गया है। इसके बीज माने गये हैं—राग और द्वेष।

राग ओर द्वेष की मौजूदगी का साफ मतलब माना जाना चाहिये कि वहाँ समता भावना का सामान्यतया अभाव हे।

किसी भी सासारिक सम्बन्ध को अथवा पदार्थ को मैं अपने लिये प्रियकारी व सुखकारी मानता हूँ याने कि मे चाहता हूँ तो उसके प्रति मेरी चाहना का भाव राग कहलाएगा। मेरे राग भाव को जो भी समर्थन देगा अथवा उसका अनुमोदन करेगा उसके प्रति भी मेरा राग भाव पैदा हो जायगा। इसके विपरीत जो मेरे द्वारा वाछित सम्बन्ध या पदार्थ की प्राप्ति मे बाधा डालता है अथवा मेरे क्रियाकलापों का विरोध करता है, उसका भी मैं विरोधी हो जाऊगा याने कि उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जाग जायेगा। ससार के किसी भी प्राणी के प्रति उपजने वाले भावो मे अधिकाशत मनुष्य के मन मे तो राग रहता है अथवा द्वेष। सम्पर्क ओर ससर्ग से दोनो प्रकार के काषायिक भाव पैदा होते हैं और परिस्थितियो के बदलने के साथ बदलते रहते हैं।

मैंने महसूस किया है कि राग ओर द्वेष के भावो मे मनुष्य का मन इतनी बुरी तरह से डोलायमान होता रहता है कि वह राग–द्वेष की दुर्भावनाओ से ग्रस्त रहकर अनर्थकारी कृत्य करता रहता है। राग और द्वेष सासारिकता के वीज रूप होने से कर्मबध के मूल कारण होते हैं। कर्म जन्म–मृत्यु का मूल हेतु है ओर जन्म–मृत्यु को ही दु ख कहा जाता है अत राग ओर द्वेष दु ख के भी मूल कारण हैं। जैसे जगल मे दावाग्नि से प्राणियो के जलने पर राग–द्वेष के वश होकर दूसरे प्राणी प्रसन्न होते हैं किन्तु वे यह नही जानते कि आगे बढती हुई दावाग्नि उन्हे भी भस्म करके छोडेगी। उसी प्रकार काम–भोगो की आसक्ति मे डूबे अज्ञानी प्राणी यह नही जानते कि ससार मे राग–द्वेष की भावनाओ का जो दावानल जल रहा है, हम असावधान रहे तो हमे भी भस्म कर देगा। इस विचारशून्यता के कारण ऐसे मनुष्य उस दावानल से बचने का कोई यत्न नहीं करते हैं। अनियत्रित राग और द्वेष आत्म गुणो का इतना सहार करते हैं जितना कि एक समर्थ शत्रु भी किसी मनुष्य का सुरक्षा सम्बन्धी अहित नहीं कर सकता हे। सबसे बडी बात तो यह है कि काम भोग अपने आप किसी मनुष्य मे विकृति पैदा नही करते–ये तो मनुष्य के राग–द्वेष रूप मोह भाव होते हैं जिनमे जकड कर वह अपने आपको विकारो का पुतला बना लेता है।

आत्म स्वरूप पर राग–द्वेष के ऐसे घातक प्रभाव का उल्लेख करते हुए वीतराग देवो की वाणी मेरे हृदय मे उतरी है कि जो मनुष्य राग–द्वेष से

रहित होता है, वही कसौटी पर कसे हुए और अग्नि मे डालकर शुद्ध किये हुए सोने के समान निर्मल माना जाता हे। जो राग–द्वेष को त्याग कर समभाव अपनाता है, वही निजात्मा द्वारा अपने आत्मस्वरूप को जानने वाला होता है। जो साधु राग और द्वेष का सबल विरोध करता है, वह ससार मे परिभ्रमण नहीं करता। यदि राग द्वेष न हो तो इस ससार मे न कोई दु खी होगा और न कोई सुख पाकर ही विस्मित ही होगा बल्कि सभी मुक्त हो जायेगे। वस्तुत सुखमय मोक्ष प्राप्त करने का एकान्त रूप से मार्ग बताया गया है कि अज्ञान और आसक्ति को त्यागे, राग और द्वेष को क्षय करे तथा सत्य ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर ले।

मैंने सासारिकता मे रच–पच कर कई बार कटु अनुभव लिये हैं कि द्वेष और राग का क्रमिक रूप से आत्मस्वरूप पर कितना भारी दबाव पडता है। जब मैं देखता था कि मेरी इच्छाओ की पूर्ति मे कोई बाधा दे रहा है तो उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जटिल बन जाता था। वह द्वेष मुझे हिसा और प्रतिहिसा के चक्र मे ऐसा घुमाता था कि अन्त सर्वविनाश के सिवाय कुछ नही होता। इस द्वेष से भी राग भाव मेरे मन मे बडे गाढेपन से समाया हुआ रहता था। मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा भवन, मरी ऋद्धि–सिद्धि और मेरे मनोज्ञ पदार्थ–उनके प्रति सदैव मैं राग भाव से प्रभावित और प्रलुब्ध बना रहता था। राग भाव क्रिया थी और द्वेष भाव उसकी प्रतिक्रिया। मैंने महससू किया कि द्वेष से भी राग बहुत जटिल होता है। द्वेष छोड भी दे मगर राग भाव छोडे नही छूटता और जब तक द्वेष और राग न छूटे अथवा कम भी न हो तब तक समता भाव का अन्तर्हृदय में प्रसार कठिन ही रहता है। पूर्णतया राग भाव को छोड देना आत्म विकास की महायात्रा की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, तभी द्वेष के बाद राग का सर्वांशत त्याग कर देने वाले महात्मा को वीतराग कहा गया है।

यह वीतरागता प्राप्त होती है जब राग और द्वेष के बीजों को पूरी तरह नष्ट कर दे याने कि तब वीतराग देव अपनी सासारिकता को ही समाप्त कर देने के किनारे पर पहुँच जाते हैं। अत अपने ससार को समाप्त करना है, अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व के विष–वृक्ष का मूलोच्छेदन करना है और आत्मा का उच्चतम विकास साधना है तो सबसे पहले राग और द्वेष रूपी भावनाओ के द्वन्द्व के बीजो को समाप्त कर दे। बीज नहीं रहेगा तो कैसे टिकेगा वृक्ष ?

आकाश के समान अनन्त इच्छाएँ

मैंने अनुभव किया है कि मेरा अनियत्रित मन बेलगाम घोडे की तरह कितनी उद्दडता से चारों ओर उदेश्यहीन बनकर भागता रहता था और साथ मे मेरी चेतना को घसीटता रहकर उसे मर्माहत बनाता था ? पाचो इन्द्रियो की उद्दाम कामनाओ का बोझ मन अपने ऊपर ले लेता था और अपनी झूठी–मीठी कल्पनाओ मे अनन्तानन्त इच्छाओ को जगा लेता था। तब वह मेरा मन इतना भी विचार नहीं कर पाता था कि क्या सारी इच्छाओं की पूर्ति समव भी हो सकेगी ?

मैंने जब अपने मन और अपनी इन्द्रियों की इस उच्छृखलता का विश्लेषण किया तो मैं उसके कारणो की खोज भी कर सका। मैं देखता था कि तुरन्त जन्मे शिशु का मन सामान्यतया निर्दोष होता है। इससे अधिक वह कुछ नही जानता जो कि उसने गर्भकाल मे सीखा हो। बालक को इसी कारण पवित्रता की मूर्ति मानते हैं। किन्तु बालक जब इस ससार के वातावरण मे बडा होने लगता है तब वह प्रपच प्रचलित वातावरण को अपने मन और अपनी इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करने लगता है। और यहीं से उसके अपवित्र होने का काम भी शुरू हो जाता है। उसके शुद्ध मन और साफ इन्द्रियो पर राग और द्वेष की मैली परते चढने लगती हैं। इस रूप मे यह माना जायगा कि बाह्य जगत् से सम्पर्क जितना बढता जाता है और गाढा होता जाता है, वह बडा होता हुआ बालक सासारिकता की कलुषपूर्ण रीति–नीति मे ढलता जाता है। अपने परिवार, समाज और राष्ट्र मे वह जिन रगो को फैलते हुए देखता है, अपने मन–मस्तिष्क को भी उन्हीं रगो से रग लेता है। वे रग होते हैं राग और द्वेष के रग जो अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व की तरफ खींचते हैं, क्योकि इन्ही रगो से जन्म लेता है इच्छाओ का वह इन्द्रधनुष– जो मायावी होता है तथा जिसके भ्रमभरे रगो को पकडने के लिये मनुष्य बचपन से लेकर मृत्यु तक का अपना सारा अमूल्य समय बरबाद कर देता है।

मैंने देखा है कि इन्द्रधनुष के इन्ही मायावी रगो के लिये मनुष्य के मन में राग जागता है। तब वह उसके गाढेपन के साथ उन रगो को याने कि नश्वर जड पदार्थो को प्राप्त कर लेने के लिये अपनी दुर्लभ प्राप्तियो को दाव पर लगा देता है। इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं और मनुष्य अपनी प्राप्त शक्तियो का दुरुपयोग करके भी जब किसी इच्छा की ज्योही पूर्ति कर लेता है, त्योही दूसरी इच्छा उसके सामने आ खडी होती है और वह इच्छा एक नहीं, अनेक रूपिणी होती है। एक इच्छा पूरी की जाय और कई अपूर्ण

इच्छाऍ सामने आकर खडी हो जाय– फिर उनकी पूर्ति के लिए मनुष्य सघर्ष करता रहे और सघर्ष करते हुए पूरा जीवन भी खपा दे तब भी क्या वह अपनी समस्त इच्छाओ की पूर्ति कर सकेगा ? फिर भी राग–द्वेष की प्रबलता ऐसी होती है कि कई मनुष्य पूरा जीवन खपा कर भी शिक्षा नही लेते।

राग और द्वेष के वशीभूत होकर जब मूर्च्छाग्रस्त मनुष्य वस्तुओ के सग्रह मे प्रवृत्त होते हैं तो उनकी वितृष्णा एक समभावी को देखते नहीं बनती। वे वीतराग देव के उपदेशो को सर्वथा भुला देते हैं कि किसी वस्तु पर मूर्च्छा–ममत्व और आसक्ति का होना ही वास्तव मे परिग्रह है। ऐसे भाव परिग्रह के परिणाम स्वरूप द्रव्य परिग्रह की तनिक सी प्राप्ति उस मनुष्य की आसक्ति को मदिरा की तरह बहुत बढा देती है। जैसे शराब पीना शुरू करने वाला आदमी नित प्रति शराब की मात्रा बढाते रहने पर भी कभी तृप्त नहीं होता, उसी तरह भाव परिग्रह से ग्रस्त मनुष्य आकाश के समान अनन्त इच्छाओ के दौरादौर मे वस्तुओ का महा–सग्रह कर लेने के बाद भी तृप्त नहीं होता। 'और चाहिये' की उसकी धुन खत्म ही नही होती है। इसी कारण उपदेश की धारा प्रवाहित हुई है कि जो व्यक्ति थोडी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह दु खो से छुटकारा नहीं पाता है। अनासक्ति भाव से वस्त्र–पात्रादि रखने मे परिग्रह नहीं बतलाया गया है किन्तु यदि इन वस्त्र–पत्रादि मे भी साधु का आसक्ति भाव हो जाता है, तो वे उस साधु के लिये परिग्रह रूप हो जाते हें। चाहे साधु हो या गृहस्थ–जब परिग्रह आता है तो अन्य अवगुण भी उसके साथ आने लगते हैं। सम्पूर्ण ससार मे सभी जीवों के लिये परिग्रह जैसा दूसरा बधन नही है। परिग्रह–बुद्धि से ही अनन्त इच्छाऍ और वासनाऍ भडकती रहती हैं और मनुष्य को राग–द्वेष पूर्ण दावानल मे भस्म होने के लिये मजबूर करती रहती हैं।

तृप्ति व अतृप्ति की कुठाएँ

कामभोगों की अनन्त इच्छाओ की पूर्ति मनुष्य के एक जन्म मे तो क्या अनन्त जन्मो मे भी सभव नहीं है–ऐसा मेरा स्वानुभव का विश्वास है। इस कारण इस जन्म मे कोई कितना भी बडा वस्तु–सग्रह कर ले तब भी अतृप्ति तो उसके मन–मानस मे छाई हुई रहेगी ही। जो इच्छाऍ पूरी हो गई हैं अथवा जिन इच्छाओ के अनुसार वस्तुओ का सयोग मिल गया हे–आश्चर्य की वस्तुस्थिति यही है कि उन प्राप्तियो से तृप्ति नहीं मिलती, कारण प्राप्त तृप्ति से अतृप्ति की काली छाया इतनी बडी होती है कि उसमे तृप्ति का अस्तित्व

ही विलुप्त हो जाता है। फिर भी इन तृप्तियों और अतृप्तियों से भयकर एव असह्य कुठाए जन्म ले लेती हैं जिनके कारण समझने बूझने के उपरान्त भी मनुष्य का ज्ञान और विवेक सामान्यतया पुन जागृत नहीं हो पाता।

मुझे याद है कि ऐसी ही अज्ञान एव अविवेक की मन स्थिति मे विभ्रमित करने वाले कैसे–कैसे परिग्रह के प्रलोभनो को मैंने झेला है तथा इच्छाओ के दबाव को बर्दाश्त किया है। फिर भी हाथ और कुछ तो नहीं लगा–हाथ लगी मात्र कुठाएँ, जिन्होने मेरे व्यक्तित्व को इस तरह मथ कर रख दिया कि दीर्घकाल तक मैं कोई सदाशयी विचार ग्रहण कर सकने तक मे समर्थ नहीं रहा। धीरे–धीरे कुठाओ का जोर जब कम होने लगा तो मैंने अतीत की ग्लानि के साथ भविष्य पर चिन्तन आरभ किया। मिथ्या विचारो का मैंने त्याग किया। व्रतो की गहराई मे जब मैं आगे बढा तो मैंने अपनी इच्छाओ को बाधने का प्रयास किया क्योंकि अनियत्रित इच्छाओ से उपजी कुठाओं की यत्रणा को मैं भोग चुका था। वीतराग देव द्वारा उपदेशित व्रत ने ही मेरी चेतना की रक्षा की और वह व्रत था इच्छा परिमाण व्रत अर्थात् खान–पान वस्त्र, वाहन आदि की छोटी से छोटी इच्छा को भी सीमा के बंधन मे बाध लो। जो सीमा सोच कर निर्धारित कर ली है–वस्तुओ की कितनी ही विपुलता हो जाय तब भी उस सीमा का उल्लघन मत करो–यह है इच्छा परिमाण व्रत। परिग्रह परिमाण याने कि क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, कांसा, पीतल, ताबा आदि धातु और घर की समस्त सामग्री तथा खान–पान, उबटन, स्नान, वस्त्र, वाहन आदि सभी की एक मर्यादा ग्रहण कर लेना इस व्रत का उद्देश्य है। एक शब्द में कहे तो मनुष्य की मूर्च्छा और तृष्णा को घटाने और सन्तोष को ग्रहण करने तथा आवश्यक पदार्थों व परिग्रह का सारे समाज मे विकेन्द्रीकरण होते रहने में इस व्रत की अपार उपयोगिता है।

मैंने देखा है कि इच्छाओं के अनियत्रित रहने की अवस्था में अतृप्ति की कुठाएँ बहुत तीखी होती हैं। इन्हीं कुठाओ से तृष्णा बढती जाती है और मोह गाढा होता जाता है। तृष्णा से मोह तथा मोह से तृष्णा का ऐसा चक्र चल पडता है जिसकी मार से दीर्घकाल तक आहत होना पडता है तथा जन्म–जन्मान्तर का दु ख भोगना पडता है। कहा गया है कि जिसके मोह नहीं रहता, उसके दु ख नष्ट हो जाते हैं और जिसके तृष्णा नहीं रहती, उसका मोह नष्ट हो जाता है। कुठाजन्य तृष्णा की ऐसी दशा होती है कि धन, धान्य, स्वर्ण, रजत आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि एक मनुष्य के अधिकार मे दे दिया जाय तब भी वह तृप्त और सन्तुष्ट नहीं होगा,

यह एक शाश्वत सत्य है। कारण, ज्यो–ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो–त्यो लोभ भी बढता जाता है। लाभ ही लोभ वृद्धि का कारण होता है। कथा है कि दो मासे सोने से होने वाला कपिल का कार्य लोभवश करोडो से भी पूरा नही हो सका। यदि सारा ससार और सम्पूर्ण सम्पत्ति व सत्ता भी मेरी हो जाय, तब भी वह मेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगी क्योकि मेरी तृष्णा का अन्त नही होता। दूसरे, इतनी सम्पत्ति और सत्ता भी अन्तत मेरी रक्षा करने में अयोग्य ही सिद्ध होगी। जब तक मेरे मन मे तृष्णा और लोभ समाया हुआ रहेगा तब तक कैलाश पर्वत के समान सोने–चादी के असख्यात पर्वत भी मेरे मन को तृप्त नहीं कर सकेंगे।

सासारिक पदार्थों मे तृप्ति की जब ऐसी दशा है तो समझ मे नहीं आता कि यह सब समझ कर भी अनेकानेक कुठाओ की पीडा हम क्यो भुगतते हैं और अपने लिये दीर्घकालिक दु खो की रचना क्यो करते हैं ? यह वास्तव मे दयनीय और चिन्तनीय दशा है हमारे मन की, हमारी चेतना की तथा हमारे ज्ञान और विवेक की।

प्रमाद की प्रमत्तता

मुझे यह तथ्य ज्ञात है कि जब काम–भोगो की इच्छाएँ मन–मानस को आच्छादित कर देती हैं और जीवन की वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे एक उन्माद सा छा जाता है तब वह मनुष्य की विशेष प्रमादपूर्ण अवस्था होती है। प्रमाद की प्रमत्तता उसे आत्मीय चेतना की शुभ सज्ञा से शून्य बनाये रखती है। इसी कारण वीतराग देव की चेतावनी प्रकट हुई कि तू समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो। समय कालखड का सबसे छोटा घटक माना गया है अत प्रमाद के अस्तित्व को एक समय के लिये भी आत्म–घातक बताया है। मद्य, विषय, कषाय, निद्रा ओर विकथा रूप प्रमाद पाच प्रकार का कहा गया है तथा प्रमाद को ही कर्म माना गया है। इन पाच प्रकार के प्रमाद के अभाव को पाच प्रकार का अप्रमाद बताया है। प्रमादी व्यक्ति को चारो ओर से भय ही भय सताता है किन्तु अप्रमत्त पुरुष को कही से भी भय नहीं होता है। विषय–कषाय सेवन से उत्पन्न प्रमाद को धर्म के क्षेत्र से बाहर समझा गया है। अप्रमादी होकर ही मनुष्य धर्म के क्षेत्र मे आत्मिक उद्यम विशेष रूप से कर सकता है।

मैंने जाना है कि प्रमाद की प्रमत्तता के वशीभूत होकर मैं आत्म–विकास की महायात्रा के तथ्य को ही भूल गया था और उसे ही क्या–अपने स्वरूप व अस्तित्व तक को भी भूल गया था। मैं यह भी भूल गया था कि मुझे

मनुष्यत्व, वीतराग धर्म श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एव सयम मे पराक्रम की जो दुर्लभ प्राप्तियाँ प्राप्त हुई हें, उन्हे अपने व ससार के दु खो को घटाने व मिटाने मे नियोजित करनी चाहिये। यह प्रमाद की प्रबलता ही थी कि मैंने इस समर्थ मानव जीवन को भी एक बार तो प्रमाद के भेट चढा दिया और अपने आपको विषय–कषाय के दलपल मे आकठ डुबो दिया।

फिर मेरे अन्त करण मे ये ध्वनियाँ गूजने लगी कि अति दुर्लभ एव विद्युत के समान चचल इस मनुष्य भव को पाकर जो प्रमाद का आचरण करता है, वह कापुरुष होता है–सत्पुरुष नहीं हो सकता। यह जानकर धीर पुरुष समय मात्र के लिये भी प्रमाद नहीं करते हैं क्योकि यह जीवन, यह यौवन प्रति पल व्यतीत होता जाता है। अत जब तक इस शरीर की शक्तियाँ क्षीण नहीं हो जाती, उससे पहले ही धीर पुरुष प्रमाद को त्याग कर धर्माराधन मे प्रवृत्त हो जाता है। वीतराग देव ने यह भी फरमाया कि जो लोग प्रमादवश सोये हुए रहते हैं, वे अमुनि कहलाते हैं और मुनि वे ही हैं जो सदा जागते रहते हैं। अप्रमादी सोते हुए भी जागता रहता है–मोह निद्रा से सोये हुए प्राणियो के बीच रहकर भी उसकी जागरूकता कभी शिथिल नहीं होती। वह यह जानता है कि मृत्यु किसी भी समय सामने आ सकती है क्योंकि काल बडा निर्दयी होता है एव शरीर बडा निर्बल होता है अत प्रमादाचरण मे कभी भी रत नही होना चाहिये। पहले प्रमादवश जो कुछ भी किया हो, उसके लिये भी सकल्प लिया जाना चाहिये कि वह भविष्य मे वैसा पुन नही करेगा। कारण, प्रमादयुक्त प्रवृत्तियाँ कर्मबधन कराने वाली होती हैं तथा जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित होती हैं, वे कर्मबधन नहीं कराती हैं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमश मूर्ख और पडित कहलाता है।

इन प्रेरणादायी ध्वनियो ने मेरे अन्त करण को जगाया, तब मैंने प्रमाद के उन्मादकारी स्वरूप को समझा और उस उन्माद को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारभ किया। प्रमाद का यह उन्माद पाच प्रकार से हमारी चेतना को आवृत्त कर लेता है– (1) **मद्य प्रमाद** –शराब आदि नशीले पदार्थो का सेवन मद्य प्रमाद है, जिससे शुभ परिणाम नष्ट होते हैं। शराब में जीवो की उत्पत्ति होने से जीवहिसा का भी महापाप लगता है। लज्जा, लक्ष्मी, बुद्धि, विवेक आदि का नाश तथा जीव हिसा आदि के मद्यपान के दोष तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, परन्तु परलोक मे भी यह प्रमाद दुर्गति मे ले जाने वाला है। मद्यपान के तो अनगिन दोष होते हैं–स्वस्थ एव सुन्दर शरीर का नाश, भाति–भाति के रोगो का आगमन, ज्ञान, स्मृति एव बुद्धि का नाश, लोगों द्वारा तिरस्कार की

प्राप्ति, सज्जनो से अलगाव, द्वेष की प्रगाढता, वाणी मे कठोरता, नीच सगति, कुल–हीनता, शक्ति का ह्रास, धर्म, काम एव अर्थ की हानि आदि। (2) **विषय प्रमाद**–पाच इन्द्रियो के विषय, शब्द, रूप, गध, रस ओर स्पर्श से पैदा होने वाला प्रमाद। इन पाचो विषयो मे आसक्ति से विषाद उत्पन्न होता हे। ये विषय–भोग भोगते समय मधुर लगते हें लेकिन परिणाम मे बहुत की कटु होते हें। विष–सम होने के कारण ही इन्हे विषय का नाम दिया गया है। इस विषय–प्रमाद से मनुष्य व्याकुल चित्त वाला होकर जीव के हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है। वह अपनी झोली दुष्कृत्यो से भर लेता है और चिरकाल तक ससार के दु खो की अटवी मे भटकता रहता है। शब्द मे आसक्त हिरण व्याध का शिकार बनता है। रूप मोहित पतगा दीपक की लौ पर जल मरता है। गध मे गृड भवरा सूर्यास्त के समय कमल मे ही बद होकर नष्ट हो जाता है। रस मे अनुरक्त हुई मछली काटे मे फसकर मृत्यु का शिकार हो जाती हे। स्पर्श सुख मे आसक्त हाथी स्वतन्त्रता सुख से वचित होकर बधन को प्राप्त होता है। एक–एक विषय के वशीभूत होकर जीव जब इस रीति से विनष्ट हो जाते हैं तो उन मनुष्यो का क्या कहना, जो पाचो प्रकार के विषयो मे प्रमत्त होकर बेभान बने रहते हें ? विषयासक्त जीव निरन्तर विषयो का उपभोग करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होता, बल्कि अग्नि मे घी डालने के समान उसकी अतृप्ति बढती ही चली जाती है। उसे आज का सुख तो दिखाई देता हे, किन्तु वह भूल जाता है कि भावी जीवनो मे नरक एव तिर्यच गति के महादु खो को भोगते समय उसकी कैसी दुर्दशा बनेगी। अत विषय प्रमाद से निवृत्ति ही श्रेयकारी है। (3) **कषाय प्रमाद**–क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय का सेवन करना कषाय–प्रमाद कहलाता है। शुभ परिणामो का नाश करने वाला क्रोध पहले स्वय क्रोधी को जलाता है ओर बाद मे दूसरो को। क्रोधी विवेक ओर सदाचार खो देता है तथा सदा अकार्यो मे प्रवृत्ति करता है। क्रोध वह अग्नि है जो चिरकाल से अभ्यस्त यम, नियम, तप आदि को भी क्षण भर मे भस्म कर देती है। क्रोध को जो क्षमा से शान्त नहीं करता, वह लोक–परलोक बिगाडने वाला एव स्व–पर का अपकार करने वाला बनता है। इसी प्रकार मान भी विवेक, विनय और ज्ञान का नाश कर देता है एव मनुष्य को कुशील एव कदाचार मे गिरा देता हे। कारण, कुल जाति, बल, रूप, तप, विद्या, लाभ व ऐश्वर्य का भी मान करना नीच गौत्र के बध का कारण होता है। मान के बल पर मनुष्य ऊँचा बनना चाहता है किन्तु यहीं वह भूल जाता है कि मान नीचा बनाने वाली वृत्ति होती हे। मान का परिहार विनय वृत्ति से ही किया जा सकता हे। माया रूप कषाय भी ऐसा शल्य है जो

आत्मा को व्रतधारी नही बनने देता। अविद्या की जननी और अपकीर्ति की प्रसारिणी यह माया इस लोक मे अपयश तथा परलोक मे दुर्गति देती हे। मायापूर्वक यदि सयम और तप के अनुष्ठान भी किये जाय तो वे भी नकली सिक्को की तरह व्यर्थ ही होगे। माया का त्याग करके सर्वत्र सरलता अपनाई जानी चाहिये। सबसे ऊपर लोभ रूप कषाय सभी प्रकार के पापो का आश्रयस्थल होता है। लोभी मायावी भी होता हे तो मानी और क्रोधी भी। लोभी मृत्यु के खतरे से तो सदा भयभीत रहता ही है किन्तु वह अपन ही आत्मीय जनो से भी भयभीत रहता है कि कही वे उसकी हत्या न कर दे। लोभी परम हिसक भी होता है। लोभ का निराकरा सतोष वृत्ति को धारण करके ही किया जा सकता है। (4) **निद्रा प्रमाद**—निद्रा दो प्रकार की होती है, एक द्रव्य निद्रा ओर दूसरी भाव निद्रा। द्रव्य निद्रा मे सोया हुआ व्यक्ति चेतना के स्थूल क्रिया—कलापो से मुक्त सा हो जाता है तथा भाव निद्रा अज्ञान ओर मोहजन्य होती है। उभय प्रकार की निद्राओं का सेवन करना निद्रा प्रमाद हे। द्रव्य निद्रा प्रमाद की अपेक्षा भाव निद्रा प्रमाद अत्यधिक भयकर एव आत्मा को अधोगामी बनाने वाला होता है। अत भाव निद्रा प्रमाद से व्यक्ति जितना बचता है उतना ही उसका आत्म—विकास होता है।

विकथा प्रमाद

राग—द्वेषवश होकर जो वचन कहे जाते हैं, उन्हे विकथा कहते हैं याने कि विकृत कथन। ये कथन कई प्रकार के होते हैं जिनका निरोध, वाणी पर सयम रखकर किया जा सकता है।

मेरा विश्वास बन गया है कि यदि मैं सर्वप्रकारेण प्रमादाचरण को समाप्त करने लगू तो अवश्य ही विषय—कषायो की मन्दता के साथ अज्ञान, आसक्ति एव ममत्व के परिणाम भी क्षीण होने लगेगे। चाहिये भीतर का जागरण, चेतना का समीकरण एव मन का केन्द्रीकरण।

आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ

अन्त करण चेतना एव मन की साधना मे जब समरसता जमती है तो अपनी विदशा के प्रति ग्लानि भी उत्पन्न होती है और एक नया उत्साह भी जागता है कि चरण सन्मार्ग पर गमन करे। ऐसी मानसिकता मे आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उस उत्साह को सम्पुष्ट बनाती हैं—ऐसी मेरी सुदृढ धारणा है। ये आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उन वीतराग देवो के परम ज्ञान से उदभूत हुई हैं जिन्होने अपने आत्मस्वरूप की श्रेष्ठ समुज्ज्वलता एव परमोच्चता प्राप्त की।

इस पहले सूत्र से सम्बन्धित ऐसी ही कुछ आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ मैं यहाँ देना चाहता हूँ जो मेरी आत्म विकास की महायात्रा का मार्गदर्शन करती हे और मेरी मान्यता है कि वे सम्पूर्ण जगत् के समस्त प्राणियो के आत्म विकास को भी अनुप्रेरित करती हैं–

'हिसा कार्यो के परिणामो को समझ कर बुद्धिमान मनुष्य स्वय छ काय के जीव अर्थात् किसी भी प्राणी समूह की कभी भी हिसा नही करे, दूसरो के द्वारा कभी भी हिसा नही करवाए तथा हिसा करते हुए दूसरो का कभी अनुमोदन भी नही करे। जिसके द्वारा छ काया के जीवो के हिसा कार्य समझे हुए होते हैं, वह ज्ञानी होता है जो हिसा कार्य को दृष्टाभाव से जानता है।

'छ काया के प्राणी समूह को वीतराग देव की आज्ञा से अच्छी तरह जानकर उसको निर्भय बना दे–अभयदान दे।'

'जो अध्यात्म रूप समता को जानता है, वह बाह्य जगत् मे चल रही सासारिक विषमताओ को समझता है, जो इन बाह्य विषमताओ को समझता है, वह अध्यात्म को जानता है। जीवन–सार को खोजने वाले मनुष्य को यह श्रेष्ठ सन्तुलन वाली आध्यात्मिक तुला सदैव अपने सामने रखनी चाहिये।

'इस जीवन मे जो व्यक्ति प्रमादयुक्त होते हैं, वे मनुष्य जीवन एव इसकी दुर्लभ प्राप्तियो के व्यतीत होते जाने को नहीं समझ पाते हैं। इस कारण प्रमादी व्यक्ति प्राणियो को मारने वाले, छेदने वाले, भेदने वाले, उनकी हानि करने वाले, उनका अपहरण करने वाले, उन पर उपद्रव करने वाले तथा उनको हैरान करने वाले होते हैं। कभी नहीं किया गया है– ऐसा हम करेगे, यह विचारते हुए प्रमादी व्यक्ति हिसा पर उतारू हो जाते हैं। अत प्रत्येक जीव के सुख–दुख को समझ कर और अपनी आयु को ही सचमुच न बीती हुई देखकर तू उपयुक्त अवसर को जान। जब तक तेरी पाचो इन्द्रियो की ज्ञान शक्ति कम नही होती है, तब तक अनेक भेद वाली अक्षीण ज्ञान शक्तियो द्वारा तू उचित प्रकार से आत्महित को सिद्ध कर ले।

'समतादर्शी के लिये कोई उपदेश शेष नही है। आसक्तियुक्त विषमतादर्शी अज्ञानी लोगो के अनुमोदन से अपरिमित रूप से दु खी होता हे, अत हे धीर, तू मनुष्यो के प्रति आशा को और वस्तुओ के प्रति इच्छा को छोड। यदि लाभ है तो मद न कर, हानि है तो शोक मत कर ओर बहुत भी प्राप्त करके आसक्तियुक्त मत बन। अपने को परिग्रह से दूर रख।

'इच्छाऍ अनत होती हैं और जीवन बढाया नही जा सकता है। फिर इच्छाओ के तृप्त न होने पर मनुष्य शोक सन्तप्त होता है, क्रोध करता हे तथा दूसरो को सताता है। जो आसक्त है, वह कपटी है, अज्ञानी है, विषय–लोलुप है और सबके प्रति शत्रुता बढाने वाला होता है। जो ममतावाली वस्तु बुद्धि को छोडता है और समतामयी आत्मा के दर्शन करता है, वह सब ओर से पूर्ण जागरूकता पूर्वक चलने वाला होता है।

'पीडित प्राणियो को देखकर तू अप्रमादी होकर गमन कर। यहॉ प्राणी पीडा मे चीखते हुए दिखाई देते हैं। हे बुद्धिमान, उनको तू देख। यह पीडा हिसा से उत्पन्न होने वाली है। और हिसा से विषमता उत्पन्न होती है अत हे धीर, तू विषमता के प्रतिफल और आधार का निर्णय कर एव उसका छेदन करके समता का दृष्टा बन।

'हे ज्ञानी, ससार को निस्सार देखकर तू समझ। हे अहिसक, दु खो से परिपूर्ण जन्म–मरण चक्र को जानकर समता का आचरण कर।'

जीवन की एक नई व्याख्या

मैं गहराई से चिन्तन करता हूॅ तो एक प्रश्न उठता है कि यह जीवन क्या है ?– कि जीवनम् ? जहॉ तक जीवन की व्याख्या का सम्बन्ध है, जितने मुह, उतनी व्याख्याऍ सुनने को मिल सकती हैं। किन्तु क्या कोई व्याख्या ऐसी है जो सूत्र रूप भी हो तथा सर्वार्थ सूचक भी हो।

मेरे मन मे आता है कि जीवन की पूर्णता किसमें मानी जानी चाहिये ? जीवन की पूर्णता वही है जो वीतराग देव प्राप्त कर चुके तथा सम्पूर्ण ससार को बता चुके। वह पूर्णता प्रकट होती है समता की पूर्णता मे। जब विषय–कषाय एव राग–द्वेष प्रमाद रूपी ममता जीवन के विचार एव व्यवहार मे से समाप्त होने लगती है और उसके स्थान पर समता का प्रवेश होने लगता है, तभी यह समझा जा सकता है कि उस जीवन ने सही दिशा पकड ली है। इस रूप मे जब ममता सम्पूर्णत समाप्त हो जाय एव समता सम्पूर्णत विस्तार पा जाय तब कह सकते हैं कि समता की पूर्णता मे जीवन की पूर्णता प्रकट हुई है।

इस दृष्टि से जीवन की जो भी नई व्याख्या मैं बनाऊ, उसमे समता–भाव का तो प्रमुख स्थान होगा ही। फिर यह सोचा जाय कि समता के उच्चस्थ शिखर पर पहुॅचने के लिये कौनसे एक बिन्दु को खोजा जाय, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो। वैसे तो समता की साधना करने तथा उस साधना

को सफल बनाने की दृष्टि से कई महत्त्व के बिन्दु हो सकते हैं जैसे समता के सिद्धान्त को समझना, उसके कार्यान्वयन के विषय मे सही निर्णय लेना और इसकी सामाजिक एव व्यक्तिगत क्षेत्र मे उपयोगिता का निर्धारण करना।

सर्वाधिक महत्त्व का बिन्दु मुझे यह महसूस होता है कि जीवन को समतामय बनाने के लिये यथा समय यथोचित रीति से सही और सम्यक् निर्णय लिया जाय। ज्ञान हम प्राप्त कर ले, सिद्धान्त को भी समझ ले, किन्तु उसको विधिपूर्वक जीवन के आचरण मे उतारने का यदि हम समय पर निर्णय नही ले सके तो उस ज्ञान और सिद्धान्त का हमे विशेष लाभ नही मिल सकता है। अत सही निर्णय के बिन्दु को ही हमे सर्वाधिक महत्त्व देना होगा।

जीवन क्या है ? इसके उत्तर मे इस रूप से सूत्र रूप व्याख्या तैयार की जा सकती है कि–

'सम्यक् निर्णायक समतामयच यत् तत् तज्जीवनम्' अर्थात् जीवन वही जो सम्यक् निर्णायक हो तथा समतामय हो। इस रूप मे जीवन के दोनो छोर पकड लिये गये हे। जीवन का अन्तिम लक्ष्य है कि उसकी सभी वृत्तियाँ एव प्रवृत्तियाँ सभी प्रकार से समतामय बन जाय। यह जीवन का अन्तिम छोर हे तो प्रारम्भ का छोर समुचित विधि से पकड मे आ जाय, उसके लिये हमारा 'सम्यक् निर्णायक' होना आवश्यक है। प्रत्येक परिस्थिति मे एव प्रत्येक स्तर पर यदि सही निर्णय लेकर धर्माराधन या गुणाचरण किया जाता है तो कोई आशका नहीं माननी चाहिये कि आत्म विकास की महायात्रा मे कही भी पथ से पग डगमगा जाय या भटक जाय। सम्यक् निर्णय–शक्ति से प्रारभ हुआ जीवन अपना पुरुषार्थ प्रक्रिया मे रागद्वेष, प्रमाद, अज्ञान, आसक्ति आदि दोषो से परिपूर्ण ममता का समूल निवारण कर सकेगा–ऐसी आशा रखी जानी चाहिये। समता साधना का श्रेष्ठतम विकास भी सम्यक् निर्णायक जीवन द्वारा सभव हो सकेगा।

मेरा मानना है कि अपने मन की ममता मिटे तो समता के सहज विस्तार को कोई नही रोक पायेगा। मन की समता मिटेगी तो फिर वस्तु मे परिग्रह नहीं रहेगा। वस्तु मे परिग्रह की मूर्च्छा नहीं होगी तो वस्तुओ को प्राप्त करने की हिसक होड समाप्त हो जायेगी। तब वस्तुओ के पूरे समाज मे सम–वितरण होने मे कोई कठिनाई शेष नहीं रह जायेगी। ममता मिटेगी तो पदार्थों की सग्रह वृत्ति मिट जायेगी। मैं सोचता हूँ कि 'पर द्रव्य लोष्ठवत्' जो कहा गया है वह तभी हो सकता है जब द्रव्य के प्रति ही आसक्ति ममत्व भाव न रहे। ऐसा हो जाता है तो परद्रव्य क्या स्वद्रव्य भी लोष्ठवत् हो जायेगा,

सिर्फ उसका उपयोग जीवन की मूल आवश्यकताओ को पूरी करने मात्र मे ही किया जाय।

मेरी आत्मा कहती है कि वर्तमान युग मे जीवन के मूल्य जिस गलत आधार पर ढल गये हैं, उन्हे परिवर्तित किये जाने की नितान्त आवश्यकता है। सारे वातावरण को आज जो अर्थप्रधान बना दिया गया है तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदड भी अर्थ को बना दिया गया है—यही सबसे बडी भूल है। यही कारण है कि आज का अर्थ—परक समाज जड मूल्यो वाला बन गया है जिसमे अर्थ को ही पहली महत्ता मिल रही है। इस कारण सारी धार्मिकता और नैतिकता को ताक मे रखकर अधिकाश व्यक्ति अर्थोपार्जन की दौड में ही बुरी तरह से भाग रहे हैं। सामाजिक क्षेत्र मे मानवीय मूल्यो का निरादर करके आर्थिक मूल्यो को जिस कदर बढावा मिला है और मिलता जा रहा है—प्रबुद्ध जनो के लिये यह गमीर चिन्ता का विषय है। चिन्ता का सबसे बडा कारण यह है कि नित प्रति समाज मे विषमता की खाई ज्यादा से ज्यादा चौडी होती जा रही है। आर्थिक सम्पन्नता और विपन्नता के भेद की दृष्टि से जितनी विषमता बढती जाती है, उतनी ही सामाजिक क्षेत्र मे अर्थ की महत्ता और उसकी प्राप्ति के लिये आपाधापी बढती जाती है। फलस्वरूप धार्मिक, नैतिक तथा सास्कृतिक दुरावस्था भी जटिल होतीं जाती है। इस सारी स्थिति का सबसे बढकर कुफल यही होता है कि समता का रूप धूमिल होने लगता है। ममता का नग्न नृत्य कुटिल होता जाता है जिससे व्यक्ति के विकास एव समाज के सुधार का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है।

मेरी सम्मति मे आज के युग की सबसे बडी आवश्यकता है कि मूल्यो मे परिवर्तन हो। अर्थ पर आधारित मूल्यो को समाप्त करना होगा और उन्हे मनुष्यता पर आधारित बनाना होगा। तभी समता का व्यक्ति की साधना मे तथा समाज के नवनिर्माण मे व्यापक रूप से सच्चा विकास सम्पादित किया जा सकेगा।

मैं इस दृष्टि से साध्य और साधन का समीकरण करते हुए जीवन की सूत्र रूप एव सारपूर्ण इस व्याख्या को कि—

सम्यक् निर्णायक समतामयञ्च यद् तज्जीवनम् को विशेष महत्त्व देना चाहूगा कि यह नई व्याख्या जीवन के मानवीय मूल्यो को प्राथमिकता देती है। समता जिस जीवन का साध्य होगी, उसका सच्चा साधन सम्यक् निर्णय ही हो सकेगा जो एक समता साधक के ज्ञान, विवेक एव ध्यान की कसौटी रूप होगा। सम्यक् निर्णय का सम्बन्ध भी सदा भावनात्मक ही होगा तथा

विकसित भावना के अनुसार ही उस निर्णय की श्रेष्ठता एव प्रभावकता सिद्ध होगी। इस प्रकार जीवन की पूर्णता इस छोटी–सी व्याख्या के दो शब्द समूहो मे समाविष्ट कर ली गई है। ये दो शब्द समूह आत्मविकास की महायात्रा के पथ पर प्रकाशित होने वाले एक प्रकार से दो दीप–स्तभ हैं।

पहला सूत्र और मेरा सकल्प

आत्म समीक्षण के इस पहले सूत्र के अनुसार मैं सकल्प करता हूँ कि मैं मूर्च्छा और ममत्व को हटाऊगा, राग–द्वेष और प्रमाद को मिटाऊँगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मगलमय बनाऊगा।

मेरा यह सकल्प मेरे लिये भी है और मेरे साथियो व अन्य प्राणियों के लिये भी है जिनको भी मैं आत्म–स्वरूप घातक दुर्गुणो से सावधानी दिलाना चाहता हूँ तथा जीवन के नवनिर्माण एव समाज के स्वस्थ विकास के प्रति अपने कर्त्तव्य का भी निर्वाह करना चाहता हूँ।

मेरा सकल्प है कि मैं अपनी स्वय की तथा अधिकाधिक मनुष्यो की सवदेनशीलता को गहरी करूगा जिससे हम सब मिलकर ऐसे समाज का निर्माण कर सके जिसमे शोषण, दमन, अनुशासनहीनता, पारस्परिक कटुता अथवा हृदयहीनता व अशान्ति की भावना न हो। मैं अपनी चेतना को जगाऊगा तो अन्य प्राणियो को भी उनकी चेतना जागृति मे योग दूगा कि जीवन को दु खी बनाने वाले मूर्च्छा, प्रमाद और ममत्व घटे तथा वस्तु त्याग से पहले ममत्व त्याग की मानसिकता बने। हमारे बीच आध्यात्मिक जागृति का इस रूप मे विकास हो कि हम मान–अपमान, या लाभ–हानि आदि के द्वन्द्वो की निरर्थकता को हृदयगम कर ले। इससे अहिसा, सत्य तथा समता को अपनाने की अभिलाषा एव उमग बलवती हो जायेगी। हमारे विचार एव व्यवहार मे जितने अधिक अशो में अहिसा, सत्य तथा समता का समावेश होगा, उतनी ही अधिक गति से अनासक्ति की मूल्यात्मक भावना का प्रसार हो सकेगा। यही मार्ग है कि व्यक्ति के अन्त करण मे तथा समाज की अन्तरगता मे नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो की चेतना सघन बन जाय।

सामान्यतया मैं जानता हूँ कि यह मूर्च्छित मनुष्यो का जगत् है फिर भी आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा का स्रोत निरन्तर बहता रहे तो मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यो न हो, उसमे आत्म–विकास का जोश जगाया जा सकता है। यदि मनुष्य एक बार वृद्धावस्था, मृत्यु और धन वैभव की अस्थिरता को दिल से समझ जाय तो उसकी सवेदनशीलता उभर सकती है और वह अपनी मूर्च्छा को तोड सकता है।

मैं सकल्प लेता हू कि मैं बाह्य जगत् के अपने सम्पर्क को कभी प्राथमिकता नही दूगा। बल्कि अन्तरात्मा की आवाज को ही प्रमुखता दूगा। इस कारण जन्म लेती हुई अपनी आशाओ और इच्छाओ का वही निरोध कर दूगा ताकि उन की पूर्ति सम्बन्धी विषय–कषायपूर्ण प्रमाद से बच जाऊ। मैं इन्द्रियो के विषयो में आसक्त बनूगा तो बहिर्मुखी हो जाऊगा और विभाव–सद्भाव मे रत रहकर कर्मबधनो को काट नही सकूगा अत अन्तर्मुखी बनना मेरा लक्ष्य होगा जिसके लिये मुझे अनासक्ति भाव का अभ्यास करना होगा। मैं मानता हू कि मेरी सयम साधना वही से प्रारभ होगी। कषाय का राजा मोह होता है अत मोह को नष्ट करूगा तो कषायो को भी नष्ट कर दूगा। आप्त पुरुषो ने कषायो से मुक्ति को ही वस्तुत मुक्ति कहा है।

मै इस सत्य को सदा मानता हूँ कि इस मानव समाज मे न कोई नीच है, न कोई उच्च–इस कारण सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार ही किया जाना चाहिये। समता से बढकर दूसरा कोई धर्म नही है। समता धर्म का मूलाधार यह है कि जगत् मे सब प्राणियो के लिए पीडा अशान्तिकारक और दु खयुक्त होती है एव सभी प्राणियो के लिये सुख अनुकूल होते हैं व दु ख प्रतिकूल होते हैं। वध आदि की हिसक प्रवृत्तियॉ अप्रिय होती हैं, जीवित रह पाने की अवस्थाएँ प्रिय लगती हैं। सब प्राणियो के लिये जीवन प्यारा होता है अत सबके जीवन की रक्षा की जानी चाहिये। जीवन रक्षा के बाद जीवन–साम्यता उससे ऊपर की सीढी है।

मैं अनुभव करता हूँ कि अहिंसा और समता की साधना ही सत्य की साधना है। आवश्यक यह है कि हम सत्य का निर्णय कर सके, सत्य को धारण कर सकें तथा सत्य की आज्ञा मे स्थिर रह सके। सत्य की जो आज्ञा है, वही समतादर्शी वीतराग देव की आज्ञा होती है, जिसका पालन मैं अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता हूँ। इस पालन मे भी मैं तत्परता को अनिवार्यता मानता हूँ क्योकि कुछ लोग उनकी आज्ञा मे भी आलसी होते हैं तो कुछ लोग उनकी अनाज्ञा मे तत्पर होते हैं जबकि ये दोनो ही दशाऍं नहीं रहनी चाहिये। मैं इस आज्ञापालन को अपनी स्वतत्रता का हनन नही मानता क्योकि उनकी आज्ञाओ तक अपनी बुद्धि तथा अपने तर्क से नही पहुँचा जा सकता है। आध्यात्मिक रहस्यो का वीतराग देवो का आत्मानुभव–उनकी समदर्शिता की आज्ञा का पालन नतमस्तक होकर ही करना चाहिये। ससार को जानने के लिए सशय (जिज्ञासा) अनिवार्य है किन्तु समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य होती है।

मैं सकल्प लेता हूँ कि मैं स्वय समभाव मे स्थित होने का प्रयास करूगा, समदृष्टि मे रहूँगा तथा अपने आचरण का समता के धरातल पर नव सृजन करूगा। इस दृष्टि से सबसे पहले मैं अपने ही जीवन को सम्यक् निर्णायक बनाऊगा ताकि समाज के व्यापक वातावरण मे सम्यक् निर्णायक शक्ति का सामान्य विकास सभव बनाया जा सके। समाज मे समतामय परिस्थितियॉ रचना ही मेरा पवित्र कर्त्तव्य होगा ही इस परिप्रेक्ष्य मे पदार्थ–सग्रह को समाज मे आर्थिक विषमता पैदा करने वाला समझूगा तथा मूर्च्छा रूप परिग्रह से सबको दूर रहने की प्रेरणा के लिए अथक रूप से कार्य करूगा।

मेरी हार्दिक अभिलाषा रहेगी कि स्व–स्वरूप, स्व–अस्तित्व एव स्व–स्वातत्र्य पर मेरी अमिट आस्था हो और इसी त्रिपुटी को मैं सभी प्राणियो के साथ सम्बद्ध मानूगा। मैं अपने आत्म स्वातत्र्य को सर्व प्राणी स्वातत्र्य से जोडकर देखूगा। मैं अपने आत्म पुरुषार्थ को स्व–पर हित मे इस सलग्नता से नियोजित कर दूगा कि स्व–हित भी पर–हित मे समाहित हो जाय। क्योकि पर–हित में अपने सर्वस्व के विसर्जन से स्व–हित की उच्च पराकाष्ठा की प्राप्ति होती है। मैं अविचल भाव से ससार के बीज रूप राग–द्वेष को समाप्त करूगा, मोह पर विजय पाऊगा तथा कामना करूगा कि मैं भी एक दिन वीतराग पद प्राप्त कर लू।

किन्तु वीतराग पद प्राप्त करने की दिशा मे अग्रगामी होने के लिए मनोरथो का निरन्तर चिन्तन करता रहूगा ताकि उनकी पूर्ति हेतु निष्ठा बनी रहे और अवसर मिलता जाय त्यो–त्यो उन मनोरथो को अपने सयमी जीवन मे मैं कार्यान्वित करता रहू। श्रावकत्व की दृष्टि से मेरे मनोरथ होगे कि (1) कब वह शुभ समय आवे जब मैं अल्प या अधिक परिग्रह का त्याग करूगा, (2) कब मैं ग्रहस्थावस्था को छोडकर मुडित होकर प्रव्रज्या अगीकार करूगा एव (3) कब मैं अन्तिम समय मे सलेखना स्वीकार कर आहार पानी का त्याग कर एव पादोपगमन मरण अगीकार कर जीवन–मरण की वाछा न करता हुआ रहूगा। इसी प्रकार सर्वविरति साधुत्व की दृष्टि से मैं मनोरथो का चिन्तन करूगा कि (1) कब वह शुभ समय आयेगा जब मैं थोड़ा या अधिक शास्त्र ज्ञान सीखूगा, (2) कब मैं एकल विहार की भिक्षु प्रतिभा अगीकार कर विचरूगा, एव (3) कब मैं अन्तिम समय मे सलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर तथा पादोपगमन मरण अगीकार कर जीवन मरण की वाछा न करता हुआ विचरूगा।

मेरी गूढ हृदयेच्छा है कि इस ससार मे सभी प्राणियों का मगल हो और मेरा भी मगल हो। मेरे मगल मे सबका मगल तथा सबके मगल मे मेरा मगल भी निहित रहता है। मैं दृढ सकल्प लेता हूँ कि मैं अपने जीवन को तथा अधिकाधिक रूप मे अन्य प्राणियो के जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय एव मगलमय बनाऊगा।



अध्याय तीन

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 2 :

में प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना है कि–

मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है।

प्रबुद्धता की बेला मे मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या आचरण मेरे नही हैं, परन्तु पर–पदार्थों के प्रगाढ मोह ने मुझे पाप कार्यों मे फसा रखा है। मै मिथ्यात्व को त्यागूगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूगा एव आत्म नियत्रण, आत्मालोचना व आत्म–समीक्षण से अपने मूल गुणो को ग्रहण करता हुआ ससार की समस्त आत्माओ मे एकरूपता के दर्शन करूगा।

दूसरा सूत्र

मैं बुद्ध ही नही, प्रबुद्ध हूँ, बुद्धि के सर्वोच्च विकास को साध लेने मे सक्षम हूँ। मेरी बुद्धि मेरा ज्ञान दीपक की लौ के समान सदैव प्रदीप्त रहता है। अपनी लौ ही के कारण दीपक सभी लोगो के मुह से दीपक कहलाता है। लौ न हो तो वह सिर्फ मिट्टी का दीवट हो जाता है।

वैसे ही जो लौ है, वह मैं हू क्योकि मैं चैतन्य देव हू, आत्मा हू। और जो मिट्टी का दीवट है, वह मेरा शरीर है। शरीर मे जब तक आत्मा है तभी तक जीवन है। आत्माविहीन शरीर त्याज्य हो जाता है। जब तक दीपक की लौ जलती रहती है, लोग उसे सहेज कर रखते हैं, कारण, वह सबको प्रकाश देता है, अधकार मे मार्ग दिखाता है। इस मानव जीवन का भी यही उद्देश्य है कि वह स्वय प्रकाशयुक्त बने तो अपना प्रकाश सब ओर भी फैलावे। जैसे दीपक की लौ कभी तेजोमय रहती है तो कभी तेल की कमी से मद्धिम भी हो जाती है, किन्तु वह जलती रहती है। जलते रहना—यही जीवन का लक्षण है। अपने पुरुषार्थ की तीव्रता अथवा मदता से जीवन की ज्योति तेजोमय अथवा मद्धिम होती रहती है, किन्तु उसका अस्तित्व निरन्तर बना रहता है। लौ जलती रहती है, जीवन प्रकाशित होता रहता है अपने ज्ञान के अमित प्रसार को अभिवृद्ध बनाते हुए। यह जलना है अपने लिये भी एव औरो के लिये भी, क्योकि प्रकाश पर किसी का एकाधिकार नही होता। प्रकाश अधकारग्रस्त सभी लोगो के लिये होता है। उसी प्रकार का यह मानव जीवन भी ससार की समस्त आत्माओ मे एकरूपता लाने के लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध है। मुझे इस प्रकाश के मर्म का पूरा ज्ञान है, बोध है। तभी तो मैं प्रबुद्ध हू।

क्योकि मैं प्रबुद्ध हूँ, इसी कारण सदा जागृत हूँ। सम्यक् ज्ञान मिथ्यात्व की नींद में कभी सोता नही, सदा जागता रहता है। प्रतिपल प्रकाश मे नहाता रहता है। ज्ञान के प्रकाश मे मेरा 'मैं' सदा जागृत रहता है, मेरा लक्ष्य हर समय मेरे सामने होता है और मैं सजगतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये प्रयासरत रहता हू। मुझे प्रबोध भी प्राप्त है और जागरण भी क्योकि एक प्रबुद्ध कभी भी सुशुप्त नहीं रह सकता है। जो जानता है, वह जागता है और जो जागता है, वह उठ खडा होता है। जो उठ खडा होता है, वह चल पडता है और वह चलता है वीतराग देवो द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर। अपने प्रबोध के कारण वह भटकता नहीं है—उसके पाव डगमगाते नहीं है। वह

निश्चल गति से अपने मार्ग पर आगे बढता जाता हे–अपनी बढती हुई उमग ओर अपने बढते हुए उत्साह के साथ।

मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ–इसीलिये मैं अपने स्वरूप को पहिचानता हूँ, अपने लक्ष्य को जानता हूँ और तदनुसार अपनी गति को आकता हूँ। मेरी चेतना की प्रबुद्धता तथा उसकी सतत जागृति ही आत्म–विकास की मेरी महायात्रा की सम्पूर्ति–सूचिकाए बन जाती हैं।

चेतना की प्रबुद्धता व जागृति

मैं जानता हूँ कि ससार के अनादिकालीन भटकाव मे मेरी चेतना अज्ञान के अधकार मे ठोकरे खाती रही है, पदार्थ मोह की मदिरा से उन्मत्त बनी निद्राग्रस्त हुई है तो अपना आपा खोकर मिथ्याचरण की गन्दगी मे मुह लगाती फिरी है। मेरी प्रबुद्धता इतनी मद्धिम हो गई थी कि जैसे लौ जल ही नही रही हो क्योकि मैं अपने निजत्व को ही विसार गया था। मेरी चेतना पर–पदार्थों के प्रगाढ मोह मे फसी तरह–तरह के पाप कार्यों मे ही लगी रही। जब मेरी प्रबुद्धता ही मन्दतम थी तो भला जागृति कहा से उभरती ?

यह तो लगातार अधकार मे ठोकरे खा–खा कर मेरा क्षत–विक्षत हो जाना हुआ, मदिरा की तीक्ष्णता मे खुमारी उतरने के बाद होश का आना हुआ और गदगी की भ्रष्टता से हद पर निकलना हुआ कि मैं चौंका, जागा और अपनी विदशा को देखने लगा। अपने अपरूप को देखता रहा–देखता रहा। समझ नही सका कि यह मैंने क्या कर दिया था ? क्यो कर दिया था, और अब क्या करूँ ? किकर्त्तव्यविमूढता मुझे देर तक घेरे रही। मैं सोचता रहा–मैं सोचता रहा।

इस सोच से मेरी चेतना ने बोध पाया तो जागरण भी पाया। और अपनी उसी प्रबुद्धता एव जागृति मे उसने अपना कठिन कार्य भी सम्हाल लिया क्योकि, वह कडी थी–अपनी स्वामिनी एव अपने सेवक के मन वचन काया के बीच की। इन सेवको ने उसे भी पथभ्रष्ट कर दिया था और उनकी पथभ्रष्टता की कालिख के छीटे तो अपनी स्वामिनी पर लगने ही थे। स्वामिनी भी मलग्रस्त हो गई। अब उसी का कठिन कार्य था कि एक ओर वह अपने सेवको की उद्दडता को रोके और उन्हे अपनी स्वामिनी की सत्सेवा मे नियोजित करे तथा स्वय स्वामिनी को भी उसके प्रबुद्ध एव सदा जागृत स्वरूप का भान दिलावे। मेरी चेतना ने तब कमर कस ली और मन, वाणी तथा कर्म की लगाम अपने हाथ मे पकड ली। यों कहिये–मेरी चेतना चाबुक बन गई, अपने को अपनी स्वामिनी के हाथो मे सौंप कर। यह चाबुक था मेरे मन,

वाणी और कर्म को मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एव मिथ्याचरण से दूर हटाने का और उन्हे सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण की दिशा मे ले जाने का–उनको पाप पक से निकाल कर आध्यात्मिकता के खुले मैदान और खुले वातावरण मे गमन कराने का। यह चाबुक चोट करके ही रह जाने वाला नहीं था, बल्कि चोट पर मरहम लगाते हुए इच्छापूर्वक आगे बढने की जागृति देने वाला था। मेरे मन, वाणी और कर्म ने चेतना के चाबुक की चोट खाई तो उन्होने ऊपर निहारा–अपनी कर्तृशक्ति के मुख पर उभरते हुए तेज को देखा तो वे भी स्तब्ध रहे, पश्चाताप मे डूबे और सकल्प के साथ सन्मार्ग पर चलने को उद्धत हो गये।

यह है मेरे 'मैं' के जागरण की कथा। मेरे 'मैं' का हाथ तब कस गया। चाबुक को उसने मजबूती से पकडा और एक नजर अपने मन, वचन और कर्म पर घुमाई 'मैं' ने एक नजर उस स्थान पर भी घुमाई जहॉ से उसे तीव्र गति से निकल जाना चाहिये था क्योंकि निकलने मे तब तनिक भी विलम्ब करना पुन सुशुप्ति मे गिरने का कारण हो सकता था। अभी–अभी उस विकारो से भरे स्थान के प्रति जुगुप्सा जागी थी और वहॉ से तुरन्त निकल जाने की तत्परता बनी थी, वह कहीं निरर्थक विलम्ब के कारण समाप्त न हो जाय। कहीं ऐसा न हो कि ससार के ऐन्द्रजालिक दृश्य उसे फिर से व्यामोहित बनादे और उसका चाबुक उसके हाथ से फिर छूटकर उसके मन, वचन और कर्म को फिर से भटकादे। उस स्थान पर जरा–सी देर के लिये भी ठहरे रहना घातक सिद्ध हो सकता था।

फिर क्या था ? मैंने अपने हाथ को एक जोर का झटका दिया और चाबुक को उन तीनो घोडो की पीठ पर बरसा दिया। मेरा रथ दौडने लगा। गदगी के उस कीचड भरे दलदल से निकल कर जल्दी से जल्दी खुले मैदान मे पहुॅच जाने की मेरी आतुरता प्रबल हो उठी, जहॉ पहुॅच कर मैं शान्ति से अपना स्वरूप–दर्शन कर सकू, आत्म नियत्रण, आत्मालोचना एव आत्म–समीक्षण की सहायता से अपने विकास का मार्ग खोज सकू तथा अपनी सम्पूर्ण शक्तियो को जगाकर अपने मूल गुणो को अवाप्त कर सकू।

मूल स्वरूप की सस्मृति

वह खुला मैदान ही तो यह मानव जीवन है, जहॉ मैं पहुॅच गया हूॅ। मनुष्यता, वीतराग धर्म–श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एव सयम मे पराक्रम की क्षमता–रूप दुर्लभ प्राप्तियॉ यहॉ मुझे मिली हैं, यह मेरी अपने मूल स्वरूप की सस्कृति का ही सुपरिणाम है।

में अपने मूल स्वरूप की मनोज्ञ झलक पाकर ही तो इस खुले मैदान मे पहुँच सका हूँ, जहा मुझे सुअवसर मिला है कि मैं अपने सम्पूर्ण स्वरूप की वास्तविकता को परखू तथा स्वरूप पर छाई मैल की परतो को हटाऊँ। यह मैल पूरी तरह निकलेगा, तभी मूल स्वरूप की उज्ज्वलता प्रकट होगी। मूल स्वरूप की मेरी सस्मृति एक ओर मुझे अपने पूर्ण स्वरूप के दर्शन करने की प्रेरणा दे रही है तो दूसरी ओर उस पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने हेतु कठिन पुरुषार्थ को भी जगा रही है।

मैं जान गया हूँ—मैं जाग गया हूँ। फिर भी जितना जाना है वह ज्ञान के महासागर की एक बूद भी नही है—अभी तक बहुत जानना है मुझे—ज्ञान की साधना मे अपनी सर्व शक्तियाँ जुटा देनी है मुझे। मैं जाग गया हूँ लेकिन यह तो जागृति का पहला ही क्षण है। जागृति की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये मेरे 'मैं' का बहुत सावधानी सचित करनी पडेगी। ज्ञान का यह प्रकाश अधिकाधिक तेजोमय होता जायगा और जागृति की सावधानी स्वाभाविक एव स्थायी बनती जायगी, तभी पुरुषार्थ की प्रक्रिया अधिकाधिक त्वरिता ग्रहण करती हुई पुष्ट, प्रबल एव प्रखर हो सकेगी।

मेरे पुरुषार्थ के फावडे चलते ही रहेंगे तथा पराक्रम का पसीना बहता ही रहेगा—तब उसे कोई रोक नहीं सकेगा। मेरे 'मैं' को उस की तेज चाल से तब कोई डिगा नही सकेगा। और इसका सबसे बडा कारण यह होगा कि मेरा 'मैं' अपने मैं—पन की अनुभूति ले चुका है, अपनी सुज्ञता, स्वस्थता एव सुघडता को पहिचान चुका है। क्या अब वह पुन उस अधकार मे—उन्माद में और भ्रष्टाचार मे लौटना चाहेगा ? जब तक उसे स्व—स्वरूप की सस्मृति रहेगी तथा स्व—अस्तित्व की आस्था रहेगी तब तक वह ऐसा कभी नही करेगा। क्या एक कुए मे गिरकर चोट खाया हुआ मनुष्य जानते बूझते हुए फिर से उसी कुए मे गिरना चाहेगा ? कहावत तो यह है कि दूध का जला हुआ छाछ को भी फूक—फूक कर पीता है। यह दूसरी बात है कि वह फिर शराब पी ले—फिर मदमाता हो जाय और फिर उसी कुए मे गिर जाय। यह नहीं है कि ऐसा नहीं होता, किन्तु ऐसा न होने देने के लिये ही प्रबुद्धता एव जागृति की निरन्तर आवश्यकता रहती है।

मैं मानता हूँ कि यह आवश्यकता निरन्तर पूरी भी होती रह सकती है, यदि मैं प्रतिपल, प्रतिक्षण आत्म—दर्शन करता रहूँ, आत्मानुभूति लेता रहू और आत्मसमीक्षण मे लगा रहूँ। सम—भाव और समदृष्टि से ससार के सारे प्राणियो को तो देखू ही, किन्तु सबसे पहले स्वय को देखू अपने ही आत्म—स्वरूप को

देखू कि उसका गति–चक्र किस तरह चल रहा है। इसे दृष्टा भाव कहते हैं। आत्मा ही कर्त्ता है किन्तु आत्मा ही अपने आपकी दृष्टा भी हो सकती हे। मै ही मुझको देख रहा हू कि मैं क्या कर रहा हू। जो कर रहा है, वह भी मैं हूँ तो मैं सतत देखने वाला भी बन जाऊ कि मैं क्या कर रहा हू। ये दोनो क्षमताएँ एक साथ कार्यान्वित की जा सकती है। मैं एक ही हूँ किन्तु कर्त्ता और दृष्टा की दोनो क्रियाएँ एक साथ कर सकता हूँ। कर्त्ता होना मेरी प्रबुद्धता है तो दृष्टा होना मेरी जागृति। मैं प्रबुद्धता और जागृति की इस वेला मे स्वय पुरुषार्थ रत रहूँगा, अपने पुरुषार्थ के खरे–खोटेपन की आलोचना भी मैं ही करूँगा तो आत्म–समीक्षण के बल पर अपने प्रछना मूल गुणो को प्रकाशित का पराक्रम भी मैं ही साधूगा, क्योकि मेरी मूल–स्वरूप की सस्मृति सुदृढ बनती हुई चली जा रही है। मेरी क्षमता और मेरी सामर्थ्य–शक्ति जाग उठी है कि मैं अपनी विदशा को जाचू, अपनी प्राप्त शक्तियो को तौलू तथा आध्यात्मिकता के नन्दन वन की ओर आगे बढू।

सत्य का विपयर्य है मिथ्या

मुझे अपने गति क्रम को निर्धारित करने के पूर्व ही सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है। क्योकि इस सासारिक परिभ्रमण मे अधिकाशत मेरे साथ यही घटता रहा है कि जो तत्त्व मेरे नही थे, उन्हे ही मैं समेटता गया और अपने गले लगाता रहा। और जो वास्तव मे मेरे अपने तत्त्व थे, उन्हे मैं भूल ही नहीं गया बल्कि उन्हे छोडता रहा। अगर कोई अपने शरीर की लज्जा ढकने वाले वस्त्रो को ही छोडता रहे तो उसे नगा होने से कौन बचा सकेगा ? मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं गुणविहीन आत्मा बनने लग गया–मेरे मानवीय मूल्य अज्ञान और अविवेक के अधेरो मे खो गये।

मुझे इसका प्रत्यक्ष कुफल मिला कि मैं सत्य को भूल गया–अपनी उन्मतता मे सत्य को भूला ही नहीं, मैं उसका शत्रु भी बन गया। जब मैंने सत्य का दामन छोडा तो निश्चित था कि मैं मिथ्या की गोद मे गिर जाता। यही हुआ ओर मैं मिथ्यात्व के बियावान बीहड मे भटकने लगा। मेरी श्रद्धा मिथ्या बन गई, मेरा ज्ञान और आचरण मिथ्या हो गया। सच पूछे तो मैं स्वय–मेरा आत्मस्वरूप इस मिथ्यात्व का प्रतीक बन गया।

पिछली स्मृतियो को अपने चित्त में उभारते हुए मुझे समझना है कि मिथ्यात्व आखिर क्या होता है ?

सत्य का विपर्यय होता है मिथ्या, जैसे कि प्रकाश का विपर्यय अधकार होता है। वस्तुत मिथ्यात्व वह अधकार होता है जो सत्य से

साक्षात्कार तो करने देता ही नही है, किन्तु सत्य का दर्शन तक भी नहीं होने देता। पश्चिम दिशा मे ले जाने वाला मिथ्यात्व आखिर पूर्व दिशा मे उदय होते सूर्य को दिखा ही केसे सकता है ? आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्यात्व का अर्थ होता है, आत्मिक विपरीतता। जब आत्मा वास्तव मे जो जानना चाहिये, वह नही जानती बल्कि उससे विपरीत जानती है, जिन तत्त्वो के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये, उन के प्रति श्रद्धा नही रखती बल्कि उनसे विपरीत तत्त्वो के प्रति श्रद्धा रखती है अथवा वस्तुत जिस प्रकार का आचरण किया जाना चाहिये वह आचरण नही करती बल्कि उससे विपरीत आचरण करती है, तब यह कहा जाता है कि वह आत्मा मिथ्यात्व के गहरे अधेरे मे भ्रमित हो रही है।

आत्म विकास की महामाया के मूल तत्त्वो की मान्यता मे जब विपरीतता आती हो तो उस दशा में विकास की बात तो दूर रही विकास के प्रति अभिरुचि तक नही जागती है–यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है, क्योकि सम्पूर्ण *श्रद्धान् ही विपरीत बना हुआ होता है। इस विपरीत श्रद्धान् को सरल भाषा* में इस प्रकार कहा गया है–(1) जीव तत्त्व को अजीव तत्त्व श्रद्धे तो मिथ्यात्व (2) अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व (3) धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (4) अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (5) साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (6) असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (7) ससार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (8) मोक्ष के मार्ग को ससार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (9) आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व एव (10) आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व।

मैं सोचता हू कि सरल भाषा मे बताई गई मिथ्यात्व की पहिचान आत्म–विकास की बुनियादी बातो से सम्बन्ध रखती है और यदि उन्ही मे विपरीत धारणा होती है तो उससे बढकर आत्मा के लिये और क्या घातक स्थिति हो सकती है ? जीव और अजीव इन दोनो तत्त्वो से यह ससार बना है किन्तु वस्तुत अपने स्वभाव से दोनो तत्त्व भिन्न–भिन्न हैं। वैसी स्थिति मे कोई आत्मा को ही न माने ओर शरीर की मृत्यु के साथ जीवन समाप्ति की धारणा बनाले या गति से चालित अजीव वाहनो को जीव मान ले तो इससे आध्यात्मिक समझ की बुनियाद ही बिगड जाती है। धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की दृष्टि से तो विपरीत धारणा का असर एकदम उल्टी दिशा मे ही ले जाता है। इसी प्रकार सच्चे साधुत्व की कसौटी को न समझे और साधु नामधारी की भी भक्ति मे ही कोई लग जाय तो असाधु गुरु से सच्चा ज्ञान कैसे मिलेगा ? आत्म विकास के मार्ग एव उसके लक्ष्य के प्रति

भी भ्रान्त धारणा व्यक्ति को न सही मार्ग पर चलने देती है, न सही गतव्य का लक्ष्य निर्धारित करने देती है। इस प्रकार मिथ्यात्व का सेवन करना आत्मा को डुबोने वाला ही बनता है क्योकि एक मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव, कुगुरु, कुधर्म व कुशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखती है और सुदेव, सुगुरु, सुधर्म तथा सुशास्त्रो के प्रति श्रद्धा नही रखती है। मिथ्यात्व की अवस्था वैचारिक दृष्टि से आत्मा के लिये महापतन की दशा होती है क्योंकि विचार ही वाणी और कर्म का जनक होता है।

मिथ्यात्व के सूक्ष्म दुष्प्रभावो को भली भाति समझने के लिये मैं उसका और अधिक बारीक विश्लेषण कर रहा हूँ, उसके पाच भेदो के रूप मे–(1) आभिग्रहिक मिथ्यात्व–तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक मिथ्या सिद्धान्त का आग्रह करना तथा सम्यक् पक्ष का खडन करना, (2) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व–गुण दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षो को बराबर समझना, (3) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिये दुराग्रहपूर्ण हठ करना, (4) साशयिक मिथ्यात्व–इस स्वरूप वाला देव होगा या अन्य स्वरूप वाला–इस तरह देव गुरु व धर्म के विषय मे सशयशील बने रहना, तथा (5) अनाभौगिक मिथ्यात्व–विचार शून्य एकेन्द्रिय आदि तथा विशेष ज्ञान विकल्प जीवो को जो मिथ्यात्व होता है उसे अनाभौगिक मिथ्यात्व कहते हैं।

मेरा दृष्टिकोण इस विश्लेषण से साफ हो जाता है कि मिथ्यात्व आत्मा की विचारणा की उस विदशा को कहेगे जब उसके सिद्धान्त–निरूपण मे परीक्षा की बजाय पक्षपात होता है, सत्य के आग्रह के स्थान पर दुराग्रह होता है या कि बुद्धि–विवेक शून्यता होती है अथवा सदेहशीलता होती है। विचार के सम्बन्ध मे जब ऐसी दुर्दशा एव सत्य की विपरीतता बन जाय तो उसके भावी विकास की बात करना ही व्यर्थ होगा।

मेरा मानना है कि जहा मिथ्यात्व होता है, वहाँ सत्य नहीं होता– सम्यक्त्व नही होता। जहाँ सम्यक्त्व तक नहीं होता, वहाँ आत्म–विकास का एक चरण भी आगे नही बढता। इसके विपरीत कर्म बधन के कारणो मे मिथ्यात्व को एक मुख्य कारण माना गया है कि मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न रखने या विपरीत श्रद्धा रखने से एक मिथ्यात्वी आत्मा मे आठो प्रकार के कर्मो का प्रवेश एव उनकी सलग्नता चालू रहती है। यही नहीं, मिथ्यात्व की जडे कभी इतनी जम जाती है कि बार–बार उखाड लेने पर भी फिर–फिर हरी हो जाती है तथा साधे गये उच्च विकास को पुन धूलिधूसरित कर देती

है। इस कारण मिथ्यात्व का पूर्णत मूलोच्छेदन अनिवार्य माना गया हे।

मैं अपनी ही आत्मालोचना करू कि सावधानी रखते हुए भी मिथ्यात्व का मन–मानस पर ऐसा आक्रमण होता है कि श्रेष्ठ तत्वो के प्रति मेरी श्रद्धा डगमगा जाती हे, ज्ञान विभग हो जाता है तथा आचरण की धारा उल्टी बहने लगती है या यो कहू कि दुनिया की बहती हवा मे मैं सज्ञाशून्य–सा होकर बहने लग जाता हू। किसी झटके से ही मेरी सावधानी वापस लौटती है तब जाकर मुझे अपने मिथ्यात्व का ख्याल होता है। बहुरूपी मिथ्यात्व का दैत्य ऐसा ही होता है जो एक साधक को बार–बार सताता है और डोलायमान करना चाहता है अत मैं मानता हू कि मिथ्यात्व के प्रति पूर्ण सावधानी रखनी एक साधक की कडी कसौटी होती है। यह सावधानी किस रूप मे रखी जाय ? मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व का वरण करे तथा सम्यक्त्व के प्रति अपनी निष्ठा ीिट बनावे।

मोह ही मिथ्यात्व का मूल कारण

यह तथ्य मेरा अनुभव जन्य है कि यह मिथ्यात्व सासारिक पदार्थो मे उपजे व गाढे बने मोह के कारण ही पैदा होता और पसरता है। तभी तो मैं जीव को अजीव मान लेता था और अजीव मेरे लिये जीव से भी ज्यादा प्रिय हो जाता था। मन को मनोज्ञ लगने वाले अथवा पाचो इन्द्रियो को सुहावने प्रतीत होने वाले जड पदार्थ मुझे अपने महसूस होते थे जबकि मैं निज गुणो को भुला देता था। तो मिथ्यात्व की यह विपरीत वृत्ति एव प्रवृत्ति पदार्थो के प्रति प्रगाढ मोह के गर्भ से ही जन्म लेती है।

और मोह मदिरारूप होता है जो मेरा भान भुला देता था। उन्मत्तता की दशा मे मेरे कदम उल्टे ही पडते थे–क्या तो जानने के मामलो मे और क्या मानने एव करने के मामलो मे। इस सम्बन्ध मे एक शराबी की दुर्दशा हम अपनी आखो के सामने प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं। शराब का नशा ही नहीं, उस नशे की खुमारी भी जब तक नही उतरती है, तब तक उसके साथ कोई अक्ल की बात करना आसान नही होता है। इसी प्रकार मोहग्रस्तता की याद भी मैं केसे रख सकता हू ? मोह के गाढे नशे मे मैं क्या सोचता था, क्या मानता था और क्या करता था यह मैं कुछ नहीं जानता। ज्ञानी जन ही जानते होगे अपितु ज्ञानी जन तो बता चुके हैं कि प्रगाढ़ मोह दशा में मन मानस पर मिथ्यात्व हावी रहता है, इस कारण उस दशा मे सम्यक्त्व का वरण कठिन ही होता है। जब विचारो की दिशा सर्वथा बदलती है तब जाकर सम्यक्त्व का श्रीगणेश होता है।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर गति करने अथवा अपनी मिथ्या श्रद्धा एव अपने मिथ्या आचरण को सम्यक्त्वपूर्ण बनाने के पहले इस व्यापक चक्र को मैं समझ लू कि ससार से मोक्ष तक पहुँचने के लिये इस आत्मा को किस प्रक्रिया से होकर गुजरना पडता है तो उस ज्ञान के कारण सम्यक्त्व के क्षेत्र मे सक्रियता हेतु विशिष्ट दृढता मुझे प्राप्त हो सकेगी। यही ज्ञान मुझे पदार्थ मोह से पृथक करेगा तो मेरी निष्ठा को मूल्यो के केन्द्र मे सस्थापित कर देगा। मुझे श्रद्धा, ज्ञान और आचरण की एक बार शुभता प्राप्त हो–यह एक बात, किन्तु पदार्थों के प्रति प्रगाढ मोह के थपेडो से मैं अपने सम्यक्त्व की सुरक्षा करने मे समर्थ बन सकू तथा उस शुभता को बनाये रखू व बढाता रहूँ यह दूसरी बात है। एक के बाद दूसरी स्थिति आवश्यक है, वरना मोह और मिथ्यात्व का देत्य कभी भी मेरी शुभता का सहज ही मे अपहरण कर सकता है।

एक दृष्टि ससार से मोक्ष तक

मेरी भव्य आत्मा इन दोनो प्रक्रियाओ की कर्त्ता है कि वह इस ससार मे कर्मों के भार से दबी हुई रहे अथवा हलुकर्मी बनकर ऊर्ध्वमुखी हो जाय। इस प्रक्रिया के ही अग हैं कि आत्मा कर्मों का भार कैसे बढाती है और अपने मन, वचन, कर्म को क्या अपरूप देती है अथवा इसके विपरीत वह अपने कर्म भार से हल्की कैसे हो सकती है और कैसे अपने मन, वचन, कर्म की शुभता साधकर सदा–सदा के लिये अपने मूल स्वरूप मे स्थित हो जाने हेतु मोक्ष के पावन प्रागण मे प्रवेश कर सकती है ?

पहले इस प्रक्रिया के प्रधान तत्त्वो को समझले। तत्त्व होता है वस्तु का सद्भाव एव उसका यथार्थ स्वरूप। ये तत्त्व सख्या मे नौ माने गये हैं– (1) जीव–जिसे सुख–दु ख का ज्ञान होता है तथा जिसका उपयोग लक्षण है, (2) अजीव– जड पदार्थ अथवा सुख दुख के ज्ञान एव उपयोग से रहित पदार्थ, (3) पुण्य–कर्मों की शुभ प्रकृतियॉ, (4) पाप–कर्मो की अशुभ प्रकृतियॉ, (5) आश्रव–शुभ तथा अशुभ कर्मो के आने का कारण, (6) सवर–समिति गुप्ति वगेरा से कर्मो के आगमन को रोकना, (7) निर्जरा–फल–भोग या तपस्या के द्वारा कर्मो को एक देश से क्षय करना, (8) बध–आश्रव के द्वारा आये हुए कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्धित होना तथा (9) मोक्ष–सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाने पर आत्मा का निज स्वरूप मे लीन हो जाना।

इन नौ तत्त्वो के स्वरूप को कुछ विस्तार से समझे।

जीव तत्त्व ही ससार के रगमच का कलाकार होता है और रगमच होता है अजीव तत्त्व का। रगमच का निर्माण, कला की विधाएँ और कला का प्रदर्शन–यह सब कुछ जीव तत्त्व करता है। क्योकि जीव ही चेतना, एव उपयोग लक्षण वाला, सुख–दु ख का वेदक, पर्याप्ति एव प्राण का धर्ता, आठ कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता, सदा काल शाश्वत रहने वाला तथा कभी भी नष्ट नहीं होने वाला असख्य प्रदेशी तत्त्व होता है। जीव ही ज्ञान, दर्शन, सुख और आत्म–वीर्य इन चार भाव प्राणो से भूतकाल मे जिया, वर्तमान काल मे जीता है तथा आगामी काल मे इन्ही चार भाव प्राणो के साथ जियेगा और इसीलिये इसका जीव नाम है। जीव मुख्यत दो तरह के माने गये हें–ससारी जो कर्म सहित हें और सिद्ध जो कर्म खपा कर मुक्त हो गये हैं। ससारी जीव चौदह प्रकार के होते हैं–सूक्ष्म एकेन्द्रिय बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, तथा सज्ञी पचेन्द्रिय–इन सात की पर्याप्त एव अपर्याप्त दशा की दृष्टि से कुल चोदह प्रकार हो गये। विस्तार की अपेक्षा से जीव तत्त्व के पाच सौ त्रेसठ भेद किये गये हैं।

अजीव तत्त्व चेतना रहित व सुख–दु ख पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग आदि से भी सर्वथा रहित होता है। वह जड स्वस्रूप होकर विनाशी स्वभाव का होता है। इस ससार के सभी दृश्यो मे जीव तत्त्व के हाथो घडा जाकर यह अजीव तत्त्व ही दिखाई देता है तथा यही जीव–तत्त्व एव ससार के ससरण का सम्बल बना हुआ रहता है। अजीव तत्त्व के चौदह प्रकार इस रूप मे माने गये हैं–धर्मास्तिकाय (गति) के तीन भेद स्कध, देश और प्रदेश, अधर्मास्तिकाय (स्थिति) व आकाशास्तिकाय (अवकाश) के भी ये ही तीन–तीन भेद–इस प्रकार नो तथा दसवा काल (समय–व्यतीति) – ये अरूपी अजीव के दस भेद तथा रूपी अजीव के चार भेद स्कध, देश, प्रदेश, एव परमाणु पुद्गल मिलाकर कुल चौदह भेद हुए।

पुण्य कर्म का बध कठिनता पूर्वक साधे गये सत्कार्यो से होता हे किन्तु इसका उपभोग करना बडा ही सुखकारी रहता है क्योकि पुण्य का उदय होने पर अनुकूल परिस्थितिया तथा मनोज्ञ वस्तुऐं प्राप्त होती हें। पुण्य–धर्म का सहायक भी होता है तो पक्ष्य रूप भी होता हे। पुण्य नो प्रकार का कहा गया है। जो निस्वार्थ भाव के आचरण से सपादित होता हे। जैसे भोजन के लिये अन्न देने से होने वाला अन्न पुण्य, पीने के लिये पानी देने से होने वाला पान–पुण्य, स्थान और आश्रय देने से होने वाला लयन पुण्य, शय्या, पाटपाटला आदि साधन देने से होने वाला शयन पुण्य, वस्त्र देने से होने वाला वस्त्र पुण्य,

दान, शील, तप, भाव, विनय और दया आदि की शुभता से होने वाला मन पुण्य, मुख से शुभ वचन बोलने से होने वाला वचन पुण्य, सेवा सुश्रूषा, विनय वैयावृत्य के शुभाचरण से होने वाला काय पुण्य तथा अधिक गुणवान को नमस्कार करने से होने वाला नमस्कार पुण्य।

पाप तत्त्व कर्म के रूप मे आत्मा को मलीन बनाने वाला, अशुभ योग से बाधने वाला एव दु खो मे पटकने वाला होता है। इस कर्म को आत्मा सासारिकता मे डूबी रह कर सुखपूर्वक बाधती है लेकिन इसे भोगना कठिन दु ख के साथ पडता है क्योकि यह अशुभ प्रकृति रूप होता है तथा इसका फल भोग होता है अत्यन्त कटुक, कठोर और अप्रिय। आत्म स्वरूप को मलिन करने वाला यह पाप तत्त्व अट्ठारह प्रकार का बताया गया है– (1) प्राणातिपात–प्राणो को आघात पहुचाकर जीवो की हिसा करना, (2) मृषावाद–असत्य भाषण करना, (3) अदत्तादान–बिना दी हुई वस्तु लेना, चोरी करना, (4) मैथुन–कुशील का सेवन करना, (5) परिग्रह– ममत्व भाव से द्रव्य आदि रखना, (6) क्रोध–खुद तपना, दूसरो को तपाना तथा कोपायमान होना, (7) मान–घमड करना, (8) माया–कपटाई और ठगाई करना, (9) लोभ–तृष्णा बढाना और मूर्छा भाव रखना, (10) राग–प्रिय व्यक्ति या वस्तु पर मोह व आसक्ति रखना, (11) द्वेष–अप्रिय व्यक्ति या अमनोज्ञ वस्तु पर विरोध का भाव रखना, (12) कलह–क्लेश करना, (13) अभ्याख्यान–झूठा कलक लगाना, (14) पैशून्य–दूसरे की चुगली करना, (15) पर–परिवाद–दूसरे का अवर्णवाद बोलना, और निन्दा करना, (16) रति–अरति–पाच इन्द्रियो के तेवीस विषयो मे से मनोज्ञ वस्तु पर प्रसन्न होना और अमनोज्ञ वस्तु पर क्रोधित होना तथा धर्म मे अरुचि रखना, (17) माया मृषावाद–कपट सहित झूठ बोलना एव (18) मिथ्यादर्शन शल्य–कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा रखना।

आश्रव तत्त्व वह है जिसके द्वारा आत्मा मे कर्म आते हैं उसी प्रकार जिस प्रकार एक तालाब मे उसके नालो द्वारा पानी आकर भरता है। आश्रव को नालो की सज्ञा दी जा सकती है जो बीस प्रकार के बताये गये हैं– (1) मिथ्यात्व–मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या आचरण का सेवन करना, (2) अव्रत–व्रत नहीं लेना और किसी तरह का प्रत्याख्यान नहीं करना, (3) प्रमाद–पाच प्रकार के प्रमाद का सेवन करना, (4) पच्चीस प्रकार की कषाय का आचरण करना, (5) अशुभ योग–अशुभ योग मे प्रवर्तित होना, (6) प्राणातिपात–जीवो की हिसा करना, (7) मृषावाद–झूठ बोलना, (8) अदत्तादान–चोरी करना, (9) मैथुन–कुशील का सेवन करना, (10)

परिग्रह—द्रव्यादि रखना, (11) श्रोतेन्द्रिय—श्रवण विषयो को वश मे नही रखना, (12) चक्षुरिन्द्रिय—दृश्य विषयो को वश मे नही रखना, (13) घ्राणेन्द्रिय—सूघने के विषयो को वश मे नही रखना, (14) रसनेन्द्रिय—रसास्वादन के विषयो को वश मे नहीं रखना, (15) स्पर्शेन्द्रिय—स्पर्श के विषयो को वश मे नही रखना, (16) मन—विचार के विषयो को वश मे नही रखना, (17) वचन—भाषण के विषयो को वश मे नहीं रखना, (18) काया—शरीर के विषयो को वश मे नहीं रखना—अर्थात् इनसे उत्पन्न राग द्वेषादि भावो से अपनी आत्मा को वश मे नहीं रखना। (19) भड—उपकरण—पात्रादि को अयतना से लेना व अयतना से रखना एव (20) सुई—कुशाग्र वस्तु मात्र को अयतना से लेना तथा अयतना से रखना।

सवर तत्त्व आश्रव याने कि कर्मों के आने का निरोध करता है। जीव रूपी तालाब मे आश्रव रूपी नालो के द्वारा कर्म रूपी आते हुए पानी को रोकने हेतु सवर रूपी पाल बाधकर पानी उसे आने से पहले ही रोक दे, उसे सवर तत्त्व कहा गया है। उस के बीस बोल होते हैं— (1) सम्यक्त्व—सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् आचरण, (2) व्रत—प्रत्याख्यान—विभिन्न व्रत ग्रहण करना तथा त्याग करना, (3) अप्रमाद—प्रमाद का सेवन नहीं करना, (4) अकषाय—कषायपूर्ण आचरण नही करना, (5) शुभयोग—शुभ योगो मे प्रवर्तित होना, (6) प्राणातिपात—विरमण जीवो की हिसा नहीं करना, (7) मृषावाद—विरमण सत्य भाषण करना, (8) अदत्तादान—त्याग—चोरी नही करना, (9) अमैथुन—कुशील का सेवन नही करना, (10) परिग्रह—परिमाण द्रव्यादि पर ममत्व भाव नही रखना (11) श्रोतेन्द्रिय—श्रवण विषयो पर अनाशक्ति (12) चक्षुरिन्द्रिय—दृश्य विषयो पर आशक्त नहीं होना (13) घ्राणेन्द्रिय—सूघने के विषयो मे अनासक्ति (14) रसनेन्द्रिय—रसास्वादन के विषयो मे अनासक्ति भाव (15) स्पेर्शेन्द्रिय—स्पर्श विषयो पर आशक्त नही होना, (16) मन—विचारो को वश मे रखना (17) वचन को वश मे रखना, (18) काया—शरीर को वश मे रखना, (19) भड—उपकरण—पात्रादि को यतना से लेना व यतना से रखना, एव (20) सुई कुशाग्र—वस्तु मात्र को यतना से लेना तथा यतना से रखना।

आत्मा से कर्म वर्गणा का देशत दूर होना निर्जरा तत्त्व कहलाता है। जीव रूपी वस्त्र के कर्म रूपी मैल, ज्ञान रूपी पानी, तप तथा सयम रूपी साबुन से धोकर मैल को दूर करे—उसे निर्जरा तत्त्व कहते हैं। सवर से आते हुए पानी को रोककर तालाब मे भरे हुए पानी को बाहर निकालने का काम निर्जरा तत्त्व करता हे। कर्मो की निर्जरा बारह प्रकार के सम्यक् तपाराधन से

की जाती है– (1) अनशन–उपवास आदि, (2) ऊणोदरी–भूख से कम भोजन करना, (3) भिक्षा चर्या (वृत्ति सक्षेप) अनेक घरो से ऐषणीय भिक्षा लाना व आहार करना, (4) रस परित्याग–रस (विगय) पूर्ण भोजन का त्याग करना, (5) कायाक्लेश–वीर आसन आदि शरीर की कष्टकर क्रियाए करना, (6) प्रतिसलीनता–इन्द्रियो, कषायो व योगो को वश मे रखना, (7) प्रायश्चित–लगे हुए दोषो की आलोचना करना तथा प्रायश्चित लेकर आत्म स्वरूप को शुद्ध बनाना, (8) विनय–गुरु आदि का भक्ति पूर्वक अभ्युत्थानादि से आदर सत्कार करना, (9) वैयावृत्य–आचार्य आदि की सेवा सुश्रूषा करना, (10) स्वाध्याय–शास्त्रो की वाचना पृच्छना आदि करना, (11) ध्यान–मन को एकाग्र करके शुभ विचारो मे लगाना एव (12) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)–शरीर के योग व्यापार का त्याग करना।

जीव जब कषाय आदि के वशीभूत होकर कर्म पुद्गलो को ग्रहण करता है और आत्मा के प्रदेश तथा कर्मों के पुद्गल एक साथ दूध पानी की तरह मिल जाते है तथा लौह पिड व अग्नि के समान एकमेक हो जाते हैं तो इस प्रक्रिया को बध तत्त्व कहते हैं। इस प्रक्रिया का एक दृष्टान्त दिया गया है कि जीव आठ कर्मो से बधा हुआ होता है और जीव तथा कर्म एकमेक हो जाते हैं व दूध–पानी की तरह लोलीभूत हो जाते हैं। तब हस पक्षी अपनी खट्टी चोच से दूध और पानी को एकदम अलग–अलग कर देता है, उसी प्रकार जीव रूपी हस सम्यक् ज्ञान रूपी चोंच से जीव और कर्म के प्रदेशो को पूर्णतया पृथक–पृथक कर देता है। बध तत्त्व के चार भेद माने गये हैं– (1) प्रकृति बध–जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो मे भिन्न–भिन्न स्वभावो या शक्तियो का उत्पन्न होना, (2) स्थिति बध–जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलो मे अपने स्वभाव का त्याग नहीं करते हुए जीव के साथ बधे रहने की काल मर्यादा को स्थिति बध कहते हैं, (3) अनुभाग बध–जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म–पुद्गलो मे तर–तम भाव याने कि फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना। इसे रसबध भी कहते हैं, (4) प्रदेश बध–जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म–स्कधो का सम्बन्धित होना। इन चार प्रकार के बध का स्वरूप लड्डू के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है कि कोई लड्डू बहुत प्रकार के द्रव्यो के सयोग से बनाया गया, जो वात, पित्त या कफ को नष्ट करता हो, उसे प्रकृति बध माने। वही लड्डू पक्ष, मास या दो मास तक उसी स्वरूप मे ताजा बना रहे–यह स्थिति बध हुआ। वही लड्डू तीखे, कडवे, कसैले, खट्टे और मीठे रस युक्त हो, उसे अनुभाग बध या रस बध

कहिये। वही लड्डू थोडी मात्रा का बधा हुआ छोटा होता है तो अधिक मात्रा का बधा हुआ बडा होता है तो वह प्रदेश बध है। प्रकृति बध और प्रदेश बध योग से होता है तो स्थिति बध और अनुभाग बध कषाय से होता है।

मोक्ष तत्त्व है–आत्मा का कर्म रूपी बधन से पूर्णतया मुक्त हो जाना तथा सम्पूर्ण आत्म–प्रदेशो से सभी कर्म पुद्‌गलों का क्षय हो जाना। आत्मा अमूर्त्त होने से इन्द्रियो की शक्तियो द्वारा नहीं जानी जा सकती है। आत्मा मे पैदा होने वाले अज्ञान, मिथ्यात्व आदि के दोषो से ही कर्मों का बध होता है तथा उसी कारण उसका ससार परिभ्रमण होता है। अत कर्म बध का सम्पूर्णत समाप्त हो जाना ही आत्मा का मोक्ष है। यह मोक्ष चार साधनो से प्राप्त हो सकता है– (1) सम्यक् ज्ञान–सत्य जानकारी, (2) सम्यक् दर्शन–सत्य श्रद्धा, (3) सम्यक् चरित्र–सत्य आचरण एव (4) सम्यक् तप–सत्य तपस्या।

यह है एक दृष्टि मे ससार से लेकर मोक्ष तक की प्रक्रिया का विहगावलोकन। मैंने इस विवरण से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया है कि ससार मे जीव–अजीव सयोग के क्या–क्या परिणाम प्रकट होते हैं और उन परिणामो को ध्यान मे लेते हुए किस प्रकार ससार–परिभ्रमण के कारणो को मन्द एव समाप्त कर सकते हैं ?

सासारिकता घटाई जा सकती है आत्म सयम से, तो मोक्ष की दिशा मे प्रयाण किया जा सकता है तपाराधन से। आइये, अब इन नौ तत्त्वो के पारस्परिक सम्बन्धो व प्रक्रियाओ को आत्म विकास की महायात्रा के सदर्भ में समझे।

जीव और अजीव की प्रमुखता

मैं जीव तत्त्व हूँ, इस कारण मैं देखता हूँ, सुनता हू तथा अन्य क्रियाएँ करता हूँ और देखकर, सुनकर तथा अनुभव लेकर जानने, उसका विश्लेषण करने तथा निरूपित सिद्धान्तो को समझने अथवा अपनी अनुभूतियो के बल पर नये सिद्धान्तो का निरूपण करने की क्षमता रखता हूँ।

मैं जीव हूँ इसीलिये अजीव नही हूँ और कभी अजीव बनूगा भी नहीं। जीव कभी अजीव नहीं बनता ओर अजीव कभी भी जीव नहीं बन सकता है। किन्तु मैंने अजीव के साथ अपना सम्बन्ध जोडा है और यह सम्बन्ध ऐसा दिखाई देता है कि जैसे मैं अजीव के साथ एकमेक हो गया होऊ। ससार के अन्यान्य अजीव द्रव्यो से तो अहर्निश का सम्पर्क होता ही है किन्तु अजीव पुद्‌गलो से बने हुए शरीरो को भी मैं धारण किये हुए रहता हूँ। अनादिकाल

से मैं ससार मे परिभ्रमण कर रहा हूँ और अनादिकाल से ही शरीरो को धारण करता हुआ आ रहा हूँ अत जब तक मैं पूर्णतया अजीव पद्गलो से अपने सभी सम्बन्ध समाप्त नही कर लूगा तब तक विभिन्न शरीर धारण करता रहूगा।

मैं एक नहीं पुद्गल–निर्मित सभी प्रकार के शरीर धारण करता रहा हूँ। आज मैं मनुष्य जन्म मे हूँ तो मैंने मनुष्य जाति को प्राप्त होने वाले औदारिक शरीर को धारण कर रखा है। औदारिक नाम इस कारण कि इस शरीर के पुद्गल उदार प्रधान होते हैं। इस शरीर के अलावा दो अदृश्य शरीर–तैजस एव कार्माण शरीर भी मैंने धारण कर रखे हैं। ये दोनो शरीर आपस मे सम्बद्ध होते हैं जिनका निर्माण तैजस एव कार्माण पुद्गलो से होता है। कार्माण पुद्गल जो विभिन्न क्रियाओ के माध्यम से आत्म प्रदेशो के साथ जुडते हैं, उन्हे ही कर्म कहा जाता है। औदारिक शरीर तिर्यंच और मनुष्य जाति के जीवो को प्राप्त होता है तो देवो व नारकियो को प्राप्त शरीर वैक्रिय कहलाता है। आहारक पुदग्लो से निर्मित शरीर को आहारक कहते हैं। औदारिक वैक्रिय तथा आहारक शरीरो की नई उत्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य जाति मे औदारिक शरीर मिला हुआ है और यहाँ से मृत्यु पाकर आत्मा देव गति मे पहुँचती है तो उसे वैक्रिय शरीर प्राप्त होता है–यह उस शरीर की नई उत्पत्ति हुई। किन्तु दो शरीर–तैजस और कार्माण सदा इन तीनों शरीरो के साथ मे भी रहते हैं तो एक शरीर छोड कर प्रयाण कर रही आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करे उस बीच के समय मे भी आत्म प्रदेशो के साथ जुडे हुए रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय मे भी मैं तीन शरीर–औदारिक, तैजस एव कार्माण धारण किये हुए हूँ। मेरे इस वर्णन का आशय यह है कि जीव और अजीव का सम्बन्ध इस ससार मे प्रगाढ रूप से बना हुआ है।

इस बधन से मैं जब कभी मुक्त होऊगा तब अपने शुद्ध स्वरूप मे मैं सिद्ध शिला से ऊपर सिद्धात्माओ की ज्योति मे ज्योति रूप एकाकार होकर सदा काल के लिये अवस्थित हो जाऊँगा।

मेरे जीव तथा अन्य जीवो के विशिष्ट हेतुओ, स्वभावो तथा भावो की दृष्टि से भिन्न–भिन्न वर्गीकरण किये जाते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार जीव दो तरह के ससारी और सिद्ध होते हैं तो ससारी जीव अपने आत्म विकास के विभिन्न स्तरों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं–(1) सयत–जो सर्व प्रकार के सावद्य–हिसापूर्ण व्यापार से निवृत्त हो गये हैं एव सयम धारण किये हुए होते हैं, (2) असयत–जो अविरति भाव धारण किये होते हैं तथा सयम–विहीन रहते हैं एव (3) सयतासयत–जो देश से व्रती होता है ऐसे व्यक्ति के अव्रत

की क्रिया नही आती। एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार जीव पाच प्रकार के कहे गये हैं—(1) औपशमिक—प्रदेश और विपाक, दोनो प्रकार से कर्मो के उदय को रोक देने से सम्यक्त्व ओर चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम भाव से जो सहित होते हैं, (2) क्षायिक—घनघाती—कर्मो का सर्वथा क्षय कर लेने पर क्षायिक भाव प्रकटाने वाले जीव। (3) क्षायोपशमिक—जो उदय मे आये हुए कर्म का क्षय करते हें तथा अनुदीर्ण अश का उपशम करते हैं। (4) औदायिक भाव—जो यथायोग्य समय पर उदय मे प्राप्त आठ कर्मो का अपने—अपने स्वरूप से फल भोगते हैं तथा (5) पारिणामिक भाव—जो कर्मो के उदय, उपशम आदि से निरपेक्ष भाव स्वाभाविक तौर पर धारण किये रहते हैं। यह परिणमन जीवत्व भव्यत्व तथा अभव्यत्व के रूप मे स्थाई होता है। अर्थात्—जिसके कारण मूल स्वरूप मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो, किन्तु स्वभाव मे ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है।

मुझ जीव एव मेरे से विपरीत अजीव मे पर्यायो का परिवर्तन अर्थात् परिणमन एक महत्त्वपूर्ण क्रिया होती है। इस परिणमन क्रिया के कारण एक पर्याय छोड कर नवीन पर्याय धारण की जाती हे। जीव मे यह पर्याय—नवीनता, गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्य, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन चारित्र, और वेद के अन्तर से आती हे तो अजीव तत्त्व मे बन्धन, गति, सस्थान, भेद, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु एव शब्द के अन्तर से आती है।

इसी सदर्भ मे में सोचू तो जीव रूप से मैं भी द्रव्य हू तो अजीव धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुदगल के विभेद से भी द्रव्य ही हूँ। गुण की अपेक्षा से द्रव्य तथा परिणमन की अपेक्षा से द्रव्य पर्याययुक्त होता है।

में जीव द्रव्य हूँ जो गुण रूप से सदा शाश्वत रहने वाला हूँ किन्तु पर्याय रूप से मैंने भिन्न—भिन्न जीवनो मे भिन्न—भिन्न शरीर प्राप्त किये तथा अलग—अलग रूप मे सम्बोधित किया गया, उस कारण तथा एक ही जीवन मे भी अपने ज्ञान, उपयोग आदि भावो की दृष्टि से परिणमन एव परिवर्तन होते रहते हैं जो पर्याय रूप होते हैं।

'मैं' हू—यह अनुभूति ही मेरे जीव होने का प्रमाण है और यदि मैं अपने आत्मतत्त्व मे सशय करता हू तो वह सशय भी सशयित तत्त्व के अस्तित्व को ही प्रमाणित करता है। फिर जीवित शरीर और मृत शरीर के बीच किस शक्ति का अन्तर रहता है ? वह शक्ति ही आत्मा है। इसलिये में आत्म रूप हूँ—शरीर रूप नहीं। शरीर अजीव है—उसका जीवन मेरी आत्मा के सयोग से है—स्वतत्र रूप से नहीं। मैं जब तक वर्तमान शरीर मे हूँ तब तक ही शरीर सक्रिय है।

मैं अपना आयुष्य समाप्त होने पर जब उसको छोड दूगा तो यह निर्जीव हो जायगा और नष्ट कर दिया जायगा। आशय यह कि मेरे और अजीव शरीर के बीच मे या सशरीर मेरे और ससार के अन्य पदार्थो के बीच मे जो सम्बन्ध और सम्पर्क है, उसका सचालक मैं हू–अजीव नही। जीव और अजीव के सचलन मे कर्त्ता की स्थिति जीव की ही होती है।

जीव के नाते मैं ही ससार मे दिखाई देने वाली रचनाओ का रचयिता तथा विभिन्न निर्माणो का निर्माता हूँ। किन्तु मेरे द्वारा सब प्रकार की रचनाएँ तथा निर्माण तभी सभव होता है, जब मैं सशरीर होता हूँ। इस शरीर के साथ बधे होने की मेरी विवशताएँ भी अनेक हैं। मैं मोह की नीद मे सोता रहू। तो यह जड तत्त्व ही अपने मोहक रूपो मे मुझे मेरे मन और मेरी इन्द्रियो को भरमा देते हैं। मैं अपने निजत्व मे तभी आ सकता हूँ जब मैं जाग जाता हूँ और अपने शरीर, अपने वचन तथा अपने मन व अपनी इन्द्रियो को अपने नियत्रण में ले लेता हूँ।

अत वास्तविकता यह है कि असली सचालक और कर्त्ता मैं हूँ और अजीव तत्त्व को मैं अपनी सेवा मे धर्माराधना के निमित्त से लगाता हूँ। यदि में स्वस्थ रहकर अपने नियत्रण को प्रभावी बनाये रखता हूँ तब तो सारी व्यवस्थाये सुचारू रूप से चलती है। उस अवस्था मे वर्तमान मे प्राप्त इस मानव तन का भी आत्म विकास की महायात्रा मे भलीभाति सदुपयोग कर सकता हूँ। किन्तु यदि मैं ही मोह की मदिरा पीकर उन्मत्त बन जाता हूँ और अपने मन व अपनी इन्द्रियो को बाहर बहक जाने से काबू मे नही कर पाता हूँ तो मैं हकीकत मे दोष अपना ही मानता हूँ, अपने इन सेवको का नहीं। स्वामी ही सावधान नहीं रहेगा तो सेवक भला क्योकर सावधानी रखेगे ?

ससार के समस्त गति चक्र एव कार्य–कलापो मे जीव तत्त्व ही प्रधान होता है किन्तु इस जीव (ससारी) तत्त्व की गति, स्थिति आदि सब अजीव से सम्बन्धित होती है अत जीव और अजीव दोनो तत्त्वो की प्रधानता स्वीकार करनी होगी। जीव (ससारी) है किन्तु उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रकटीकरण अजीव के माध्यम से ही होता है। अत सम्पूर्ण दृश्य जगत् न किसी एक ईश्वर की अथवा अन्य किसी विशिष्ट शक्ति की रचना है बल्कि जीव एव अजीव तत्त्वों के सयोग का ही प्रतिफल है।

मैं इस ससार का केन्द्र हूँ अजीव तत्त्व के सयोग से किन्तु यह सयोग मेरे लिये एक बधन है जो मुझे दु ख भरे इस ससार में ही रोक रखना चाहता हैं जबकि मेरा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि मैं इस बधन को तोडकर अपने

आत्मस्वरूप को परम निर्मलता की ओर ले जाऊँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अपने जीव–अजीव सयोग को कमजोर बनाऊँ और अपने सयम व तप से सम्पूर्ण सयोग विच्छेद का पुरुषार्थ करू। मैं जब अपना सम्पूर्ण अजीव–सयोग समाप्त कर दूगा तो मैं अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर लूगा। मेरी आत्म–विकास की महायात्रा तब सम्पन्न हो जायेगी।

कर्म–बध का विश्लेषण

किन्तु जब तक मैं ससार में ही परिभ्रमण करता रहता हूँ एव विभिन्न जीवनो मे विविध शरीरो मे स्थित होता रहता हूँ तब तक सम्पूर्ण पर्यायो का निर्माता यह कर्म बन्ध ही बनता हे अत कर्म बध की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझना आत्म स्वरूप को समझने की पहली सीढी होगी।

मैं जीव होता हूँ और मेरा शरीर अजीव, किन्तु दोनो के सयोग से नाना प्रकार की वृत्तियाँ एव प्रवृत्तिया जन्म लेती हैं तथा उनमे विविध क्रियाए फूटती हैं। ये समस्त क्रियाए शुभता अथवा अशुभता या मिश्रित रूप में अपना प्रभाव आत्मा पर अवश्य छोडती हैं। जब एक ईश्वर जैसी कोई शक्ति ससार की रचना करने वाली अथवा सासारिक जीवो को सुख–दु ख का भोग देने वाली नहीं होती है तो निश्चय ही कोई दूसरी व्यवस्था होगी जो जीव को उसके शुभ अथवा अशुभ कार्यो का प्रतिफल देती होगी। यह जिज्ञासा सही है और मेरा कहना है कि वह व्यवस्था ही कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था है। फिर पूछा जा सकता है कि इस व्यवस्था का सचालन कौन करता है ? इसके उत्तर मे मैं कहना चाहूगा कि यह व्यवस्था इस प्रकार स्वय सचालित है कि उस के मर्म को समझने पर सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।

मैं जीव हूँ सो मैं ही कर्मो का कर्त्ता तथा मैं ही उनके फलाफल का भोक्ता भी हूँ। यह करने और भोगने का क्रम इतना व्यवस्थित है कि करने पर उसका फल भोगना ही पडता हे, चाहकर भी कोई जीव उससे छूट नहीं सकता। एक दृष्टान्त लेले। कोई व्यक्ति अपने बदन पर अच्छी तैल मालिश करके रेत मे लेट जाय तो उसके बदन पर रेत के कण चिपक जायेगे अथवा नहीं। वैसे ही रेत के कण चिपकेंगे जेसी रेत मे वह लेटेगा। कण भूरे होगे, लाल होगे या काले होगे तो उसी रग के कण उसके बदन पर चिपकेगे। फिर वे कण गरम होगे तो उसे ऊष्णता का अनुभव देगे। ठडे होगे तो शीत का और तीक्ष्ण होगे तो चुभन का। एक बार वे कण शरीर के चिपक जायेगे तो उन्हे जल आदि से धोने पर ही शरीर से अलग कर सकेंगे। तो यह सारी चिपकने की और ऊष्णता, शीत या चुभन का अनुभव देने की क्रिया किसने

की ? साफ है कि रेत के कणो ने। तो क्या रेत के कण जीव होते हैं ? यह भी साफ है कि जीव नही होते अजीव होते हैं किन्तु तैल के ससर्ग से अजीव रेत के कण सक्रिय हुए। तो बताइये कि इस सारी क्रिया का सचालन किसने किया ? क्या इसमे किसी परमात्मा का कार्य है ? नही।

ऐसी ही व्यवस्था कर्म सिद्धान्त की है। मैं इसका सक्षिप्त विश्लेषण अपने ही उदाहरण से करता हूॅ। मैं सशरीरी हूॅ। अत जीव–अजीव सयोग रूप हूॅ और उसी कारण नाना प्रकार की क्रियाएँ करने मे समर्थ हूॅ। समझिये कि मैंने अपनी एक क्रिया से किसी जीव को सताया तो इसमें जो तत्फलस्वरूप मुझे पाप कर्म का बध होगा। यह बध कैसा होगा ? मैं बता चुका हूॅ कि मेरे औदारिक शरीर के साथ तैजस और कार्माण शरीर भी जुडे हुए हैं। यह कार्माण शरीर ही मेरे आत्म प्रदेशो से सम्बद्ध कर्म समूह का पिड है। कर्म परमाणु स्कध स्वय अजीव होते हैं जो आकश मे फैले हुए होते हैं। जिस तरह का मैंने कार्य किया है, वैसे ही कर्म पुद्गल क्रिया होने के साथ ही मेरे आत्म प्रदेशो के साथ बध जाते हैं। कर्मयोग्य पुद्गल, मेरी आत्मा के साथ सबद्ध होकर कर्म रूपता की सज्ञा पा जाते हैं। मैंने हिसा रूप पाप कार्य किया है तो पाप कर्म बधेगे और यदि दयापूर्वक किसी प्राणी की रक्षा का शुभ कार्य किया है तो सम्यक् दृष्टि के सकाम निर्जरा एव पुण्य बन्ध प्रसग भी उपस्थित हो सकेगा जिस प्रकार तैल मालिश किये हुए बदन पर उपलब्ध रेत के कण स्वयमेव ही चिपक जाते हैं। ये कर्म समूह कार्य की सघनता–जन्य भावो के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकृति, स्थिति, रस अथवा प्रदेश की तारतम्यता से बधते हैं। गाढा तैल लगा हुआ होगा तो ज्यादा रेत के कण मजबूती से चिपकेगे और मामूली तैल होगा तो चिप कर जल्दी छूट भी जायेगे। ऐसी ही तारतम्यता इन कर्मो की होती है, जितनी कालावधि के लिये इनका बध होता है, उसके पूर्ण हाने पर ये बधे हुए कर्म उदय मे आते हैं और अपना शुभ अथवा अशुभ फल जीवात्मा को देते हैं। कर्मो की यह व्यवस्था इतनी सुघड है कि ये महान् से महान् आत्मा को भी नहीं बख्शते। वीतरागता और उसके बाद आत्मा जब क्रिया करना ही छोड देती है, तभी ये कर्म पिड छोडते हैं। किन्तु जब तक ससार मे भटकाव है, जीव की प्रत्येक क्रिया तदनुरूप कर्म से आत्मा को आबद्ध करती ही है। कर्म बध से कोई भी ससारी जीव बच नही सकता है, बल्कि अपने कर्मानुसार वह भिन्न–भिन्न गतियो मे भ्रमण करता हे तथा भिन्न–भिन्न परिस्थितियो का अनुभव लेता है। यद्यपि जीव ही अपने कर्मो का कर्त्ता होता है फिर भी अपने कर्म योग पर उसका कोई वश नहीं होता। अपने कर्मो के फल उसे अपने बाधे हुए कर्मो के अनुसार ही भोगना होगा।

निकाचित कर्मो मे तो तनिक भी परिवर्तन नही कर सकता है। किन्तु कर्मो का कर्त्ता होने से जीव ही स्वय अपने भाग्य का निर्माता भी है।

मैं कर्मो का कर्त्ता हू क्योकि मेरे द्वारा की जाने वाली क्रियाओ पर मेरा वश होता है। जैसी मेरी विचारणा होती है, वैसी ही क्रिया होती है अथवा मैं अपनी विचारणा को शुभ रूप भी दे सकता हूँ तो अशुभ रूप भी। यदि मैं चाहूँ तो शुभ क्रियाए करू और पुण्य कर्म बाधू जो मुझे शुभ फल देवे। इसके विपरीत यदि मैं अशुभ क्रियाएँ करूँ तो उनसे पाप कर्मो का बध अवश्य होगा। तो जहाँ तक विचारणा बनाने ओर क्रियाएँ करने का सम्बन्ध है, मैं ही अपने भाग्य का निर्माता होता हूँ। जैसी क्रियाएँ में करूँगा, वैसे ही कर्म बधेगे। जैसे कर्मो का बधन होगा, वैसा ही फल आगे मुझे भोगना पडेगा। फल भोग मे मैं स्वतत्र नही हूँ किन्तु क्रियाएँ करने मे स्वतत्र हूँ। इस कारण आज जब मुझे सुख के साधन और धर्माराधन की अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं तो मुझे यही अनुभव होना चाहिये कि पहले शुभ कार्य करके मैंने अपने भाग्य का शुभ निर्माण किया जिसका शुभ फल आज मुझे मिल रहा है। इसके स्थान पर आज यदि मुझे दु खो का सामना करना पड रहा है तो उसके पीछे का तथ्य भी अपने पहले बाधे हुए कर्म ही होगे, अत ये दु ख भी मेरे अपने ही बनाये हुए हें। सभी स्थितियाँ पूर्व कर्म फल के परिणाम स्वरूप ही हो—ऐसी भी बात नही है। हम अपनी नवीन क्रियाओ से भी नये कर्मों की बध करते रहते हैं।

कर्म बध की प्रक्रिया के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जीव व अजीव के सयोग से जीव की जो क्रियाएँ होती हैं वे क्रियाएँ ही कर्म बध का कारण बनती हैं। कर्म बध के अनुरूप ही जीव को उसका फल भोगना होता है। क्रियाएँ करने तक जीव की अपनी स्वतत्रता होने के कारण वह चाहे जैसा अपना भाग्य बना सकता है। बाद मे फल भोग के समय चोंकना नही चाहिये, बल्कि उसे धैर्य और शान्ति से सहन करना चाहिये ताकि इस शुभ क्रिया से पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा होने के साथ नवीन कर्मो का बध न हो और अगर बन्ध हो भी तो शुभ योग कारण के रहने से पुण्य कर्म का ही बन्धन होवे।

कर्मो की यह सारी व्यवस्था इतनी सुघड, सम्प्रभावी तथा वैज्ञानिक हे कि इसका गहराई से अनुभव करते हुए आत्मा—विकास की महायात्रा को सफल बनाया जा सकता है। बशर्ते कि हम इस सिद्धान्त के मर्म का हृदयगम करे।

कर्मों का आगमन, अवरोध एव क्षय

जीव अजीव सयोग से कर्म बध की प्रक्रिया का कुछ विश्लेषण मैंने किया तो मैं इस तथ्य को भी स्पष्ट करू कि कर्म बध को हटाने मे भी जीव का पुरुषार्थ सफल हो सकता है। मैं कर्मों का कर्त्ता हूँ और कर्त्ता बनने तक मेरी स्वतत्रता है, पर भोक्ता होना लगभग कर्मानुसार होगा ही। मैं कर्म भार से दबा हुआ हूँ किन्तु यह नही है कि मैं एकदम परवश ही हो गया हूँ। उस भार को अपने पुरुषार्थ से मैं हटाने मे भी समर्थ हूँ। या यो कहूँ कि अगर मेरा सकल्प, साहस और पुरुषार्थ सक्रिय है तो मैं किसी भी स्तर पर पराधीन याने कि कर्मों के अधीन नही हूँ। मैं अपने कर्म बध को उनके उदय होने से पहले भी क्षय भी कर सकता हूँ। पुरुषार्थ की कुछ कमी रहे तो उसे दबा सकता हूँ– उपशायित कर सकता हूँ। और यह तो है ही कि मैं आने वाले कर्मो को पहले ही अवरुद्ध भी कर सकता हूँ।

अत वस्तुत मैं सजग आत्म स्वरूप के नाते हर समय स्वतत्र हूँ–परतत्र कभी भी नही, कहीं भी नही। मैं प्रबुद्ध हूँ सदा जागृत हूँ तो सदा स्वतत्र हूँ परन्तु यदि मैं प्रबुद्ध भी नहीं हूँ और सदा जागृत भी नही हूँ तो प्रति क्षण कर्मों की मार से पराधीन एव पीडित भी रहूगा ही। कारण पाप कर्मो को बेमानी मे हसते–हसते बाध लूगा लेकिन जब उनका अशुभ फल भोगूगा तब फिर बेमानी मे दु ख सहते हुए हाय–विलाप करूगा जिससे फिर नये अशुभ कर्मों का बध कर लूगा। मेरा अज्ञान और मेरा मोह मुझे कर्म बध की ऐसी जटिल शृखला से बाध देगा कि मेरा उससे छुटकारा बहुत ही कठिन हो जायगा। यही कारण है कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा तथा सम्यक् आचरण किसी भी विकासशील आत्मा के लिये अनिवार्य है। सम्यक्त्व है तो यही समझ है और सही समझ है तो मानिये कि उन्मुक्त विकास है।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि मैं प्रबुद्ध हूँ–सदा जागृत हूँ। यह बुद्धि और जागृति मुझे हर समय कर्म बध के प्रति सावधान बनाये रखती है। मैं अपनी प्रत्येक क्रिया की शुभता और अशुभता के विषय मे बहुत सतर्क रहता हूँ। यही सतर्कता मुझे अपनी मन, वचन तथा कर्म पर अपना नियत्रण बनाये रखने मे सक्षमता प्रदान करती है। इस सक्षमता के बल पर ही मैं अपनी स्वतत्रता को बनाये रखता हूँ, तभी हकीकत में मैं अपने 'मैं' पन की सच्ची अनुभूति लेता हूँ।

जब मेरा 'मैं' सावधान, सतर्क और स्वतत्र होता है तो वह कर्मो के आगमन का अवरोध, उपशम एव क्षय करने के लिये भी अपना सामर्थ्य सचित करता है।

मे जान चुका हू कि जब भी मे किसी प्रकार की क्रिया करता हू तो तदनुकूल कर्मो का मेरे आत्म प्रदेशो के साथ बध होता है। ओर यह क्रियाओ का कर्म अविराम गति से मेरा चलता रहता है--कभी भी एक पल के लिये भी यह क्रम रुकता नहीं है। मैं एक क्षण के लिये भी निष्क्रिय नही होता हूँ। यदि मैं कोई शुभ क्रिया करता हूँ तो पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा भी होती है तो कभी पुण्य रूप शुभ कर्म का बध होता है और यदि मैं कोई अशुभ क्रिया करता हूँ तो पाप कर्म का बध होता है। शुभ कर्म का बध मुझे शुभ फल देने वाला बनता हे तो अशुभ कर्म के बध से मुझे अशुभ फल मिलता है। और एक बार कर्म बध होने के बाद उसका शुभाशुभ फल मुझे भोगना ही पडता है। शुभ फल मे मुझे सुविचारणा, शुभ वचन तथा शुभ साधनो का सयोग मिलता है जिनकी सहायता से मैं अपने आत्म-विकास के महत्कार्यो मे अधिक सक्षम तथा सामर्थ्यवान ननता हूँ।

किन्तु मेरा अशुभ फल मुझे अधिक अशुभता मे घसीटता है। यदि मेरी सावधानी नही जगे तो अशुभता का घनत्व निरन्तर बढता जाता है जिसके कुफल स्वरूप मेरी अशुभ कर्म--बद्धता अधिकाधिक घनीभूत होती जाती है ओर मैं अधिकाधिक दु खो से घिरता हुआ चार गति, चौरासी लाख जीवयोनियो मे परिभ्रमण करता रहता हूँ। अत मेरी सावधानी के साथ मेरा यह निश्चय बनता है कि मे बधते हुए कर्मो का अवरोध करू। यह बात मुख्य रूप मे अशुभ कर्मो के सम्बन्ध मे है। मैं सकल्पबद्ध होकर प्रत्येक क्षण अपनी क्रियाशीलता के विषय मे यह ध्यान रखता हूँ कि वह अशुभता से दूर रहे। मैं सत्कार्यो मे ही सलग्न रहू, सत्वचन ही अपने मुह से निकालू तथा शुभ ध्यानो मे ही अपनी चेतना को केन्द्रित करू-इसका पक्का खयाल रखता हूँ। यह खयाल ही मुझे अशुभ कर्मो के बध से बचाता है। इससे अशुभ कर्मो का अवरोध होता है। यह मेरी अवरोध शक्ति जितनी अधिक बढती है, मैं अपने आत्म प्रदेशो को अशुभ कर्म सलग्नता से रक्षित बनाता जाता हू।

अशुभ कर्मो के अवरोध मे जब मुझे सफलता मिलने लग जाती है तब मेरी अभिलाषा जागती है कि मैं अपने आत्म प्रदेशो के साथ पहले से सलग्न कर्मो को भी समाप्त करना आरभ करूँ ताकि मेरी आत्मा हलुकर्मा बनने लगे। यह शुभ कार्य मैं सयम की साधना एव विविध प्रकार के तपो की आराधना के माध्यम से करना चाहता हूँ। मेरा सयम जितना सशक्त बनता है और तपाराधन जितना कठोर होता है, मेरे बधे हुए कर्म या तो दबने लगते हैं या धीरे-धीरे क्षय को प्राप्त होने लगते हैं। इस प्रक्रिया को उपशम या क्षम कहते

हें। कर्मो के उपशम की क्रिया भी अधूरी कहलाती हैं क्योकि पूर्ण क्षय के बिना पूर्ण आत्म–विकास सभव नही होता है। राख के ढेर के नीचे दबे हुए अगारे कभी भी उघड जाने पर तथा हवा का बहाव पाने पर फिर से भडक सकते हें और फिर से जल व जला सकते हैं अत उन अगारो को पूरी तरह बुझाये बिना निश्चिन्तता नही ली जा सकती है। उसी प्रकार उपशमित कर्मो की अवसर पाकर पुन सक्रियता ग्रहण करने की आशका बनी रहती हे, इस कारण लक्ष्य को कर्म–क्षय के हेतु केन्द्रित कर लेना ही मैं श्रेयस्कर मानता हूँ।

इस श्रेष्ठ लक्ष्य से अनुप्राणित होकर मैं अहिसा, सयम और तप रूप धर्म की साधना को अधिक सशक्त बना लेता हू। सासारिकता के स्पर्श मात्र से तब मैं चौंकने लग जाता हूँ और मुनि धर्म की सजगता को आत्मसात कर लेता हूँ। तब मेरी सुखद कामना बनती है कि मैं अशुभ कर्मो की तरह शुभ कर्मो का भी क्षय करने लगूँ। सम्पूर्ण कर्म–क्षय मेरा, अटल और अन्तिम ध्येय बन जाता है क्योकि मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण कर्म क्षय के पश्चात् ही चेतन–जड सयोग से सम्पूर्ण मुक्ति हो सकती है। इस सम्पूर्ण मुक्ति को ही मैं मेरा मोक्ष मानता हूँ जब मेरी आत्मा सदा सर्वदा के लिये सिद्ध अवस्था मे अवस्थित हो जायगी तथा ज्योति–रूप बन जायगी।

पाप–पुण्य मीमासा

अपने मोक्ष के सदर्भ मे मुझे पाप पुण्य की सम्यक् मीमासा कर लेनी चाहिये ताकि आत्म विकास का मेरा ध्येय अटल बन सके।

पाप–पुण्य के सम्बन्ध मे एक तथ्य को मैं पहले जान लूँ। मैं समझू कि यह ससार एक महासागर के समान है जिसको पार करके मुझे दूसरे किनारे पर रहे हुए सिद्ध स्थल पर पहुँचना है। वर्तमान मे मेरे आत्म–प्रदेश आठो कर्मो के जटिल बधनो से बधे हुए हैं। ये बधन इतने जटिल हैं कि मैं महासागर के अतल जल में डूबता उतरता हूँ किन्तू अपनी तैरने की शक्ति का उपयोग भी नहीं कर पाता हूँ। तब मेरे विचारो मे यह सत्य उभर कर ऊपर आता हे कि मे तैरने की तनिक कोशिश भी तभी कर सकता हू जब मेरे ये बधन कम से कम कुछ तो ढीले हो। उस समय का मेरा अनुभव इतना कटुक और दु खदायक होता है कि मैं इस महासागर मे गुलाचे खाने के साथ मगरमच्छो और भयानक जन्तुओं अथवा तूफानो के रूप मे आते हुए भीषण खतरो को निरीह दृष्टि से देखता हू, उन खतरो में बुरी तरह क्षतविक्षत होता रहता हूँ किन्तु जटिल बधनो के कारण अपने को बचा नहीं पाता हू।

मेरी ऐसी दुरवस्था ही मेरी जागृति का कारण बनती है। तब मैं सोचता हू कि अब भी में अपनी अज्ञान एव मोह ग्रस्त क्रियाओ के सम्बन्ध मे सतर्कता बरतू और उन क्रियाओ की पुनरावृत्ति को जितनी रोक सकू, रोकने का सत्प्रयास करू। मेरा यह सत्प्रयास पाप कार्यो को समझ कर उनमे प्रवृत्ति रोकने से प्रारभ होता है। पाप कार्यो का अठारह प्रकार का जो वर्गीकरण मैंने ऊपर बताया है, उसी पर मैं क्रमिक रूप से चिन्तन करना चाहता हू कि कैसे अपने दैनिक जीवन मे उनसे जितना अधिक हो सके बचता हुआ चलू।

पापो और महापापो मे पहला पाप स्थान माना गया है हिसा को, इसी कारण अहिसा को परम धर्म का नाम दिया गया है। महापाप की सम्पूर्ण निवृत्ति से ही परम धर्म की प्राप्ति हो सकती है। हिसा की व्याख्या की गई हे—प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिसा। में जब सासारिक जड पदार्थों की प्राप्ति की दिशा मे अत्यन्त मोह—ग्रस्त बनकर प्रवृत्ति करता हूँ तब मेरे मन—मानस पर प्रमाद की प्रमत्ता छा जाती है। मैं बेभान हो जाता हू और इतना तक नही देख पाता हूँ कि मैं अपनी किस क्रिया से कितने अन्य प्राणियो का वध कर रहा हूँ—उनका छेदन—भेदन कर रहा हूँ—उनके प्राणो (दस प्राण) को कष्ट पहुँचा रहा हूँ—उन पर शासन करके उनको अपने अधिकार मे ले रहा हू अथवा उनको हैरान और परेशान कर रहा हूँ। प्रमाद का ऐसा ही घातक प्रभाव होता है जिसमे मेरी चेतना शून्य सी बन कर इन्द्रियो के विषय—विकारो मे रत बन जाती हे। ऐसी मन—स्थिति मे मैं जीव कर्म बध का मादक भार एकत्रित कर लेता हूँ।

में जानता हूँ कि हिसा का जन्म और विस्तार मेरे प्रमाद—योग से होता है। हिसा के जितने निकृष्ट रूपो को मैं समझता हूँ तभी मेरे जागरूक ध्यान मे अहिसा के उत्कृष्ट रूप भी तैरने लगते हैं। मैं जब किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास या आयुष्य पर आघात करता हूँ और उसकी उससे पेदा होने वाली तडपन को देखता हूँ तो मेरे अन्त करण मे करुणा की लहरे भी उठने लगती हें। किन्तु जब तक प्रमाद योग का मेरे मन मानस मे प्रचड रूप बना हुआ रहता है तब तक में उन प्राणियो की तडपन मे सुखानुभव भी करता हूँ और अट्टहास करता हुआ यह घमड करता हूँ कि मैं कितना महाबली हूँ। यह मेरा सुखाभास घृणित ग्लानि मे बदलने लगता है जब मैं कुछ सचेतन होकर करुणा—भाव की प्रतीति लेता हूँ। किन्तु मेरी ऐसी परिणति तभी उभर सकती है जब मैं मिथ्यात्व के अधकार से निकल कर सम्यक्त्व के आलोक मे गमन करने का सकल्प लेता हूँ।

सामान्यतया जब मैं अठारहो पापो मे रचापचा रहता हू तब हिसा के क्रूर कार्य मुझे दूसरे पापो के पक मे घसीटते रहते हैं। मैं हिसक होता हू तो असत्यभाषी भी बन जाता हूँ। नि शक होकर झूठ बोलता हूँ और झूठा आचरण करता हूँ जैसे कि मुझे अपनी इन दुष्प्रवृत्तियो का कोई कुफल भोगना ही नही पडेगा। हिसा ओर झूठ से लैस होकर तब मैं चौर्य कर्म मे प्रवृत्ति करता हू। दूसरो द्वारा न दी हुई वस्तु को लेने की बात तो छोडिये, मैं जोर--जबरदस्ती से दूसरे प्राणियो को प्राप्त वस्तुओ को छीन लेता हूँ और उनको वस्तुओं के अभाव मे पटक कर दु खित व पीडित बना देता हूँ। आज की जटिल आर्थिक व्यवस्था मे तो मैं अपना वैभव और ऐश्वर्य अशक्त प्राणियो का शोषण करके प्राप्त करता हूँ क्योकि यह प्रकृति का नियम है कि यदि सबको अपने निर्वाह के लिये नीतिपूर्ण श्रम करना हो तो उससे निर्वाह तो हो सकता है लेकिन सचय सभव नही। आज कुछ हाथों मे अपार परिग्रह सत्ता और सम्पदा का जो सचय दिखाई दे रहा है, वह अधिकाश रूप शोषण के क्रूर कर्म से--अपने लाखो करोडो साथियो के उत्पीडन से किया जाता है। यह सब अदत्तादान अथवा चौर्य कर्म का पाप है। मेरा दुष्टतापूर्ण अनुभव हे कि जब--जब मैं हिसक, झूठा और चोर बना हू और मोह--प्रमत्त बनकर परिग्रह का सचय जुटा सका हूँ तब--तब मैं सासारिक सुखो के पीछे पागल होकर भागा हूँ और सबसे पहले इन्द्रियो के तेतीस विषयो मे लिप्त हुआ हूँ, जिसका मोहित कर देने वाला सबसे बडा रूप रहा है मैथुन। तब मैंने ब्रह्मचर्य को कुछ भी नही समझा तथा अपनी प्राप्त शक्तियो को कुशील सेवन मे लगाने लगा। काम भोगो को ही मैंने सुख माना और बार--बार दु खी होते हुए भी इसी सुख के लिये दौडधूप की। मैथुन के साथ परिग्रह के सचय मे मैंने अपार आसक्ति भी अपने मन मे जमा करली। इस प्रकार इन पाच महापापो का मैं पुतला बन गया।

महापापी बनकर मैं पाप पक मे गहरे से गहरा धसता ही चला गया। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह के विकार मुझे क्रोध, मान, माया और लोभ के विकार--क्षेत्र मे ले गये। मैं हर बात पर क्रोध करने लगा क्योकि मुझमे अपने वर्चस्व व अधिकारो का मान समा गया था। इसके साथ ही अपने उस झूठे मान को बनाये रखने के लिये मैं कपट पूर्ण चेष्टाए करके माया का आचरण करने लगा। सासारिक उपलब्धियो मे इन दुष्टतापूर्ण वृत्तियो एव प्रवृत्तियों के सहारे मुझे ज्यो--ज्यो लाभ होने लगा, त्यो--त्यो मेरा लोभ भी बढता गया। लोभ बढता और मैं अधिकाधिक लाभ पाने की लालसा से पापपूर्ण कार्यो मे अधिकाधिक दुष्टता से जुट पडता। मेरी सज्ञा--शून्यता लालसाओ की भडकती हुई उस आग मे घी का काम करती।

तब मन के गहरे कोनो मे उभरती थी इस ससार मे मुझे डुबोये रखने वाली मूल कुवृत्तियॉ–राग और द्वेष। जो मेरे मनोज्ञ सम्बन्ध और पदार्थ होते, उनसे मैं गाढे राग–भाव से जुड जाता। तभी प्रकट होती उसकी प्रतिक्रिया रूप द्वेष की दुर्भावना। जो सम्बन्ध और पदार्थ मेरे लिये अमनोज्ञ अनचाहे होते उनके प्रति मैं द्वेष से भर उठता और उन लोगो के प्रति भी जो मेरी मनोज्ञता–लालसा याने कि चाहत का विरोध करते, उसमे बाधा डालते अथवा मेरे वर्चस्व के विरुद्ध सामने खडे होते। राग और द्वेष के भावो मे में इतना आन्दोलित और कम्पायमान हो जाता कि एक पल भी मैं इन वृत्तियो से विलग नही हो पाता। हर समय मुझे यही सोच लगा रहता कि किस प्रकार मैं अपने चहेतो (व्यक्ति सम्बन्ध या पदार्थ) की रखवाली करूँ और कैसे अपने विरोधियो का सर्वनाश कर डालू। यही घात–प्रतिघात अहर्निश मेरे मन–मस्तिष्क मे चलता रहता और उसके मारक तनावो को भोगते हुए भी में राग–द्वेष की वृत्तियो को छोड नही पाता तथा उनसे सचालित होने वाली प्रवृत्तियो के दबाव को मिटा नहीं पाता।

मैं अपनी ऐसी कलकित मनस्थिति मे कलह के अलावा और क्या करता ? रातदिन अपनी अशुम वृत्तियो तथा प्रवृत्तियों मे फसा रह कर सब ओर कलह और क्लेश मे लगा रहता। अपने स्वार्थो पर पडने वाली जरा सी चोट से भी में बिलबिला उठता और दूर के ही लोगो से नही बल्कि अपने खून के रिश्तो से भी मयकर कलह करता। मेरे स्वार्थों की घृणित पूर्ति मे आडे आने वाले लोगो पर झूठे कलक (अभ्याख्यान) लगाता, दूसरो की चुगली (पैशुन्य) करता, उनकी छल छदम से भरी निन्दा (पर परिवाद) करता ओर अपनी पाचो इन्द्रियो के तेवीसो विषयो की मनोज्ञता से खुश होता रहता तो उनकी अमनोज्ञता से कुपित बना रति ओर अरति के पाप मे डूबा रहता। मुझे सुरीला सगीत सुनने को मिलता तो खुशी से चहक उठता लेकिन कडवी आवाज सुनकर अप्रसन्न हो जाता। आखो से काम–भोगो को उकसाने वाले सुन्दर दृश्य दिखाई पडते तो में मुदित हो जाता लेकिन कुरूपता को देखकर भडक जाता। सुगधियो की सॉसे लेकर में आनन्द मानता तो दुर्गंध से नाक–भों सिकोड लेता। रस भरे पदार्थो को में चटखारे से लेकर खाता तो अस्वाद पदार्थो को सामने पाकर क्रोध से भर उठता। इसी प्रकार स्पर्श सुख के हिडोले मे झूलते हुए मैं स्वर्गीय सुखो की मस्ती मानता तो वैसी सुख सामग्री न मिलने अथवा छिन जाने पर में सन्ताप और विक्षोभ से भर उठता। रति–अरति के इस पाप से मैं भ्रमित वना रहता और धर्म मे कोई रुचि नहीं

लेता। अपनी रति–अरति के स्वार्थों मे कपट सहित झूठ (माया मृषावाद) बोलने की जैसे मेरी आदत ही बन गई थी। और मेरी इस निकृष्टता का मूल कारण था मिथ्या–दर्शन शल्य याने मन, वचन एव कर्म का मिथ्यात्व जो मुझे कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म के कुचक्रो मे उलझाये रखता था।

आज मुझे मेरी उन कुवृत्तियो पर कठोर पश्चात्ताप होता है कि इन कुचक्रो के कुफल–स्वरूप मैं उस तरह के व्यवसाय करता था जो व्यक्ति–हित एव समाज व्यवस्था के नाते निषिद्ध माने गये हैं। मैं व्यक्ति–हित और समाज व्यवस्था की तरफ आखे मूदे रहता था और सिर्फ अपने ही स्वार्थी लाभ के लिये लालायित बनता था। वे व्यवसाय, जो मैंने इन लालसाओ मे भटक कर किये, इस प्रकार के थे (1) अगार कर्म–सर्व प्राणियो के लिये सुखकर वनो के वृक्ष काट कर उनके कोयले बनाना तथा उसका व्यापार करना, (2) वन कर्म–वन खरीद कर या ठेके पर लेकर वृक्षो को काट कर या कटवा कर बेचना, (3) शाकट कर्म–गाडी, इक्का, बग्घी आदि पशु–वाहन बनाना तथा बेचना, (4) भाटक कर्म–भाडा कमाने के लिए पशु–चालित गाडी आदि से दूसरो के सामान को ढोना, ऊँट–घोडा–बैल आदि पशुओ को किराये पर देकर आजीविका चलाना, (5) स्फोटन कर्म–भूमि (खान) आदि फोडना और उसमे से निकले हुए खनिज पदार्थो को बेचना, (6) दन्त वाणिज्य–हाथीदात, शख आदि का व्यापार करना तथा ऐसे दात आदि निकलवाने की व्यवस्था करना, (7) लाक्ष–वाणिज्य–भारी जीव–हिसा के कारण रूप लाख, चपडी रेशम आदि पदार्थ निकलवाना व उनका व्यापार करना, (8) रस वाणिज्य–मदिरा आदि बनाने व बेचने का कार्य करना (9) केश वाणिज्य–दास, दासी, पशु आदि के बाल निकलवाना व उनका व्यापार करना, (10) विष वाणिज्य–सखिया आदि तरह–तरह के विष जन्तु–हत्या से निकलवाने तथा उनका व्यापार करना, (11) यत्र पीडन कर्म–तिल, ईख आदि पेरने के यत्र चलाना व चलवाना तथा उसका धधा करना, (12) निर्लाछन कर्म– बैल, घोडे आदि को नपुसक बनाने का धधा करना, (13) दवाग्निदायक कर्म–जगल आदि मे आग लगाने या लगवाने का धधा करना, (14) सरोद्रह तडाग शोषण कर्म–झील, कुड, तालाब आदि को सुखाने का धधा करना एव (15) असतीजन पोषण कर्म–अपनी आजीविका चलाने के लिए दुष्चरित्र स्त्रियो, शिकारी प्राणियो आदि का पोषण करना। तब मैं नही समझता था कि अहिसा मे विश्वास रखने वाले एक साधक को ऐसे हिसापूर्ण व्यवसाय नही अपनाना चाहिये। अपनी आजीविका मुझे अहिसक उपायों तथा नैतिकता के साथ ही चलानी चाहिये–यह

भान मुझे बाद मे उपजा। हिसा–भरे व्यवसाय चलाते हुए भला कोई भी अहिसा पालन की दिशा मे आगे कैसे बढ सकता है ?

मैं अब जान गया हूँ कि ये सब कर्मादान पापो के द्वार हैं जिन्हे बन्द करके ही में अपनी अशुभता को घटा सकता हूँ तथा अपने मन, वचन एव कर्म की शुभता को बढा सकता हूँ। यह शुभता जब बढती है तो मेरे आत्म प्रदेशो से अशुभ कर्मो का बध ढीला होता हे तथा शुभ कार्यो के बध से पुण्य कर्मो का उपार्जन होता है। शुभता की निर्जरा के साथ कभी उस मनोदशा मे लोकोपकारी कार्य करने की मेरी शक्ति भी सगठित बनती है एव सत्कार्य करते रहने का मेरा सकल्प भी सुदृढ होता है। मन, वचन एव काया के शुभ योगो के प्रवर्तन काल मे मैं पुण्य कार्य करने का अभिलाषी एव समर्थ बनता हूँ। पुण्य रूप शुभ कर्मो का बध नौ प्रकार से हो सकता है। मैं जरूरतमन्द और योग्य पात्र को भोजन के लिये अन्न दू, दूध पानी वगेरा पीने की वस्तुऍं सुलभ करूँ, आवश्यक वस्त्र प्रदान करू, ठहरने के लिए स्थान उपलब्ध कराऊ तथा बिछाने व सोने के लिए पाटला बिस्तर आदि दू तो क्रमश अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन पुण्य व शयन पुण्य रूप शुभ कर्म का मेरे बध होगा। इसके सिवाय गुणियो को देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव वाणी के द्वारा योग्यो की प्रशसा एव शरीर से गुरुजनो की सेवा सुश्रूषा करने से मन, वचन एव काया पुण्य का अर्जन होता है। अन्तिम नौवा पुण्य–कार्य माना गया है नमस्कार को कि मैं भाव भक्ति पूर्वक अपने पूज्य एव गुरुजनो को नम्रता से वन्दन आदि करू। ये पुण्योपार्जन के कारणभूत पवित्र कार्य कहे गये हैं जिनके लिये यदि मैं यथास्थान यथासमय एव यथाशक्ति अपनी कर्मण्यता का अर्पण करूँ तो मेरे पुण्य कर्मो का बध सभव बनता है।

मैं यह भी जान गया हूँ कि यदि मेरे शुभ पुण्य कर्मो का बध हो जाता है तो उनकी तारतम्यता के अनुसार इस प्रकार से उनका शुभ फल भी मुझे प्राप्त हो सकता हे कि मैं साता वेदनीय का अनुभव करूँ याने कि मुझे सुख प्रदायक साधन सामग्री मिले। मुझे गति अनुपूर्वी तथा आयु मे मनुष्य या देव जन्म मिल सकता हे तथा उच्च गौत्र भी। पाचो प्रकार के शरीर पचेन्द्रिय जाति के साथ श्रेष्ठ अगोपाग, सहनन व सस्थान युक्त भी मुझे मिल सकते हैं। वर्ण, गध, रस, स्पर्श शुभ रूप तो अगुरु–लघु, पराघात, श्वासोश्वास, आतप और उद्योत भी पूर्ण शुभता से मुझे प्राप्त हो सकते हैं। नाम की दृष्टि से त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुखद, आदेय और यश कीर्ति नाम भी सुलभ हो सकते हे। और तो और पुण्य कर्म के बध की उच्च

स्थिति बने तो तीर्थंकरत्व भी प्राप्त हो सकता है।

मैं ऊपर यह बताने का प्रयास कर रहा था कि ससार रूपी इस महासागर मे जटिल कर्म बध से बधी हुई मेरी आत्मा अपने बचाव का कोई उपाय नही कर सकती है जब तक कि वह पहले जटिल बधनो को ढीले करने की कोशिशे न करे। कर्म बधनो को ढीला करने का, धीरे–धीरे काटने का और अन्त में उनका सम्पूर्ण रूप से क्षय कर देने का यही उपाय है कि पाप कार्यो मे निरन्तर होती हुई अपनी प्रवृत्ति का निरोध किया जाय एव उनके स्थान पर शुभ कार्यो का ऐसा क्रम चलाया जाय कि शुभ पुण्य कर्मो का बध हो। इसके फलस्वरूप मेरे कर्मो के वे जटिल बधन ढीले पडने लगेगे। जब बधन ढीले पडने लगेगे तो हाथ–पाव अपनी ताकत दिखाने के लिये कुछ–कुछ आजादी पाने लगेगे। हाथ पावो को योग्य रीति से चला–चलाकर मैं एक ओर अपने को डूबने से बचाने की कोशिश करने लगूगा तो दूसरी ओर अपने अगो के लिये अधिक आजादी पाते रहने की चेष्टा मे लगूगा। इस बीच मेरे पुण्योदय से मुझे ऐसे अनुकूल साधनो की प्राप्ति भी हो सकेगी कि जिनकी सहायता से मैं इस महासागर के पार जा सकू। अर्थात् मैं पानी मे न डूबू और अपना तैरना जारी रख सकू–ऐसा उपकरण मिल जाय या मजबूत नौका ही प्राप्त हो जाय–ताकि मैं महासागर में मुझे डुबोने की चेष्टा करने वाली लहरो और ऑधियो का कामयाब मुकाबला कर सकू। अधिक पुण्योदय हो तो मुझे सुविधा सम्पन्न बडा जहाज भी मिल सकता है जिसके कारण महासागर मे मेरे डूबने का खतरा ही न रहे और उसे पार कर लेने की सुनिश्चितता पैदा हो जाय। ये सब उपलब्धियॉ पूर्व कृत पुण्य कार्यो के फलोदय मे मिल सकती है। पाप कर्मो के बध समय–समय पर प्रतिकूलताए पैदा करते हैं। जिनके कारण धर्माराधना मे नित नई बाधाऍ खडी होती हैं तो आत्म विकास मे स्वस्थ अभिरुचि का ही अभाव बन जाता है। दूसरी ओर पुण्य कर्मो के बध से फलोदय के समय ऐसी अनुकूलताऍ और उत्साहवर्धक परिस्थितियॉ पैदा होती रहती है कि आत्म–विकास की महायात्रा मे आगे बढते हुए हर तरह के शुभ सयोग सुलभ होते हैं। धर्म मे रुचि, धर्म मे आस्था तथा धर्म मे पराक्रम दिखाने की प्रवृत्ति इसी पुण्य कर्म तथा उसके फल से प्राप्त अनुकूलताओ के आधार पर सफलता के सूत्र प्रकट करती है। पाप कर्मो का फलोदय मुझे सासारिक दु खो के इस महासागर मे गहरे डुबोता है तो पुण्य कर्मो का फलोदय इस महासागर को तैर कर पार करने की अच्छी से अच्छी क्षमताऍ मुझे प्रदान करता है। पाप पुण्य की मीमासा में मैं इस सत्य को भी ध्यान मे

ले लेना चाहता हूँ कि चरम लक्ष्य के रूप में पाप कर्मों के साथ पुण्य कर्मो का भी क्षय करना पडता है क्योंकि कैसे भी कर्मो का बध हो वह चेतन–जड सयोग की नींव को नहीं तोडता है जबकि इस सयोग की बुनियाद को पूरी तरह से नेस्तानाबूद करने के बाद ही मेरी आत्मा को पूर्ण स्वतत्रता मिल सकेगी। सभी कर्मों का बध समाप्त हो जायगा तभी उनका फल भोग भी समाप्त होगा। पाप कार्यों से निवृत्ति इसलिये अनिवार्य होती है कि ससार रूपी महासागर मे गहरे डूब जाने से अपनी आत्मा की रक्षा करू तो पुण्य कार्यों की प्रवृत्ति से मुझे वे साधन सुलभ हो सकेगे जिनकी सहायता से मैं कुशलता एव सफलता पूर्वक उस महासागर के पार पहुँच सकू।

किन्तु यह भी मैं जानता हूँ कि इस महासागर के उस पार पहुँच जाने के बाद वहाँ की भूमि पर मैं अपना पाव तभी रख सकूगा जब मैं पार पहुँचाने वाली नाव या जहाज को भी छोड दू। एक कर्म डूबोता है तो दूसरा कर्म तैराता है, लेकिन महासागर से पार पा लेने के बाद दोनों कर्मो को त्यागना आवश्यक हो जाता है। पाप कर्मो का क्षय कर दिया जाय परन्तु जब तक पुण्य कर्मो को भी मैं नहीं खपाऊँगा, तब तक मेरा मोक्ष नहीं हो सकेगा। जड–चेतन सयोग रूप सासारिकता की पूर्ण समाप्ति तभी प्रकट होगी जब सम्पूर्ण क्रियाएँ एव सम्पूर्ण कर्म बधन भी समाप्त हो जायेंगे।

मैं सोचता हूँ कि जब तक पाप कार्यों से सम्पूर्णतया निवृत्ति सभव नहीं बनती है, तब तक मुझे पुण्य कर्म के बध के शुभ प्रयास करते रहने चाहिये। पुण्य के प्रतिफल रूप जो अनुकूल संसाधन उपलब्ध होते रहेंगे, उनकी सहायता से मुझे मेरी साधना मे अधिकाधिक शक्ति प्राप्त होती रहेगी।

मोक्ष का चरम चरण

यह मेरी आत्मा के पराक्रम और पुरुषार्थ का चरम चरण होगा कि मैं अपनी सर्व कर्म बधन समाप्ति के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति करलू। इस दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर पुण्य कर्म के उपार्जन की विभिन्न स्थितियाँ रहती हैं। पहले स्तर पर जब तक कि मनुष्य जन्म आर्य क्षेत्र आदि की धर्माचरण की अनुकूलताएँ न मिलें–पुण्य को उपादेय मानना होगा, कारण इन पुण्य प्रकृतियो की प्राप्ति के बिना मुझे चारित्र की प्राप्ति ही सभव नहीं हो सकेगी। परन्तु जब मुझे चारित्र की प्राप्ति हो जायगी तथा एक साधक की अवस्था में जब मैं अवस्थित हो जाऊँगा तब पुण्य मेरे लिये उपादेय न रहकर मात्र ज्ञेय हो जायगा। और आत्मा को चौदहवें सर्वोच्च गुण स्थान मे चारित्र की पूर्णता मिल जाने पर यही पुण्य भी हेय हो जाता है क्योंकि उसको त्यागे बगैर मोक्ष

के महिमामय क्षेत्र मे प्रवेश नहीं मिल सकता है। सभी कर्म प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मेरी आत्मा का चरम चरण मोक्ष के महात्म्य का वरण करेगा। मुझे समझना चाहिये कि यह मोक्ष क्या होता है, किस मार्ग से मोक्ष की तरफ आगे बढा जा सकता है और किन द्वारो से मोक्ष के महल मे प्रवेश मिलता है ?

अनादिकाल से ससार में जड के साथ आबद्ध इस आत्मा को जड के बधन से पूर्णतया मुक्त कर लेने का नाम ही मोक्ष है। जैसे एक दर्पण पर मैल और कालिख जम जाती है तो उसमे स्वरूप दर्शन नहीं हो सकता है। यदि मैल और कालिख की परत हल्की हुई तो उसमे हल्की ही सही–प्रतिच्छाया दिखाई दे सकती है। किन्तु मैल और कालिख की परतें यदि एक पर एक करके कई चढी हुई हो तो उसमे प्रतिबिम्ब की तनिक झलक भी नहीं देख सकेंगे। तो क्या उस समय यह माना जा सकता है कि दर्पण की दर्शन क्षमता ही नष्ट हो गई है ? कोई यह नहीं मानेगा बल्कि यही कहेगा कि दर्पण पर जमे मैल को मल मलकर धो–पौंछ लीजिये और फिर देखिये कि उसकी मूलरूप मे रही हुई दर्शन क्षमता पुन प्रकट हो जाती है या नहीं।

मेरी धारणा है कि यही स्थिति मेरी आत्मा की भी है। चेतना का प्रवाह या आत्मा की शक्तियॉ कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती है, मात्र उनकी प्रभा निष्तेज हो जाती है। उसका भी दर्पण वाला ही कारण होता है। कर्मो का चढा हुआ मैल अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की कठिन साधना से धो–पौंछ डालू तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरा भी आत्म स्वरूप सिद्ध स्वरूप की परम उज्ज्वलता का वरण कर लेगा। महत्त्वपूर्ण यही पुरुषार्थ है कि कर्म मैल को पूरी तरह से साफ कर लिया जाय तो इन चार मार्गो से सभव है–(1) सम्यक् ज्ञान, (2) सम्यक् दर्शन, (3) सम्यक् चारित्र एव (4) तपाराधन। सत्पर प्ररूपणा–मोक्ष सत्स्वरूप है क्योकि मोक्ष शुद्ध एव एक पद है। ससार मे जितने भी एकपद वाले पदार्थ हैं, वे सब सत्स्वरूप हैं–जैसे घट पट आदि। दो पद वाले पदार्थ सत् और असत् दोनो हो सकते हैं–जैसे खरश्रृग या बध्यापुत्र असत् है तो गौ–श्रृग, राजपुत्र सत् स्वरूप हैं। अत मोक्ष का एक पद वाच्य होने से सत्स्वरूप है। जिन मार्गणाओ (उपलब्धियों) से युक्त जीव मोक्ष जा सकते हैं, वे मार्गणाऍ मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, त्रसकाम, भावसिद्धिक, सज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन हैं। इनके अतिरिक्त चार मार्गणाओ–कषाय, वेद, योग एव लेश्या से युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकते हैं।

मोक्ष के विभिन्न द्वारो का वर्णन इस प्रकार हैं—(1) द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त हैं, (2) क्षेत्र द्वार—लोकाकाश के असख्यातवें भाग मे सब सिद्ध अवस्थित हैं (3) स्पर्शन द्वार—लोक के अग्रभाग मे सिद्ध रहे हुए हैं, (4) काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं। (5) अन्तर द्वार—सिद्ध जीवों मे अन्तर नहीं हैं क्योंकि कोई पुन ससार में आकर जन्म नहीं लेता तो सब सिद्ध केवल ज्ञान व केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान होते हैं, (6) भाग द्वार— सिद्ध जीव ससारी जीवो के अनन्तवे भाग हैं। (7) भावद्वार—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक रूप पाच भावो में से सिद्ध जीवों मे केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव और जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही होते हैं, (8) अल्प बहुत्व द्वार—लिग की अपेक्षा से सबसे थोडे नपुसक सिद्ध, स्त्रीसिद्ध उनसे सख्यातगुणे अधिक और पुरुषसिद्ध उनसे सख्यातगुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार आत्मा का कर्म रूपी बधन से सर्वथा छूट जाना तथा सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशो से सभी कर्मों का क्षय होना 'मोक्ष' कहलाता है।

कभी मेरे मन में शका उठती है कि मोक्ष है भी या नहीं। तभी मुझे आप्त वचनो का ध्यान आता है कि जिनमे सशय के प्रकार भी बताये हैं तो उनका समाधान भी किया गया है। सशय के बिन्दु ये हैं— (1) यदि मोक्ष नहीं है तो क्या आत्मा दीपक के समान है जो जैसे दीपक बुझ जाता है तो उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है ? (2) क्या कर्म और जीव का सम्बन्ध जैसे अनादि है वैसे अनन्त भी है ? अथवा (3) क्या राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोग, आदि दु खों के क्षय हो जाने पर आत्मा का मोक्ष हो जाता है और फिर भी उसका अस्तित्व बना रहता है ? इन सन्देहो को दूर करके सही समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि दीपक की तरह आत्मा का सर्वनाश मानना उचित नहीं है क्योकि किसी भी वस्तु का सर्वनाश नहीं होता है। दूध की पर्याय दही मे तो घडे की पर्याये ठीकरो में बदल जाती है। उसी प्रकार दीपक बुझ जाने के बाद वह अधकार की पर्याय मे बदल जाता है। दीपक भी पहले चक्षुरिन्द्रिय से जाना जाता है और बुझने पर घ्राणेन्द्रिय से जाना जाता है जिससे प्रमाणित है कि उसका सर्वथा समुच्छेद नहीं होता है। इसी प्रकार आत्मा का भी मोक्ष हो जाने पर उसका सिद्ध स्वरूप बन जाता है। इस कारण कर्म जीव का सम्बन्ध अनादि अवश्य है किन्तु अनन्त नहीं है, क्योकि सभी प्रकार के दु:खो के नष्ट हो जाने पर आत्मा परम सुख को प्राप्त होती है—यही उसका मोक्ष है जहॉ पर भी वह अपने अस्तित्व को बनाये रखती

है। सभी प्रकार की बाधाओ व आवरणो का नष्ट हो जाना ही परम सुख का हेतु बनता है। कभी यह भी शका हो कि पाप से दु ख होता है तो पुण्य से सुख–फिर पुण्य कर्म भी नष्ट हो जाने से मोक्ष में सुख कैसे मिलेगा ? उसका समाधान है कि पुण्य से होने वाला सुख वास्तविक नहीं होता है क्योकि वह कर्मों के उदय से होता है। वास्तविक सुख कर्मो के सभी आवरणो के समाप्त हो जाने से ही मिलता है। यही कारण हे कि इस ससार मे बडे–बडे चक्रवर्ती सम्राट भी सुखी नहीं रहे। ससार का सुख मात्र सुखाभास होता है। जैसे कि प्यास लगने पर पानी पिया तो सुख अनुभव हुआ किन्तु थोडी देर बाद फिर प्यास का दु ख सताने लग जाता है। ससार का सुख विकारो का सुख होता है जो क्षणिक होता है किन्तु सर्व विकार समाप्ति के पश्चात् मोक्ष का जो सुख मिलता है, वह शाश्वत और अव्याबाध होता है एव सर्व इच्छाओ से परे परम समाधियुक्त होता है।

मैं मोक्ष के सदर्भ मे इस आप्त वचन का पुन पुन स्मरण करता हूँ कि सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा नव तत्त्वो के स्वरूप को जानती है, सम्यक् दर्शन द्वारा उस पर श्रद्धा करती है तथा सम्यक् चारित्र एव तप की आराधना द्वारा नवीन कर्मो के आगमन को रोकती एव पुराने कर्मो को नष्ट करके अपने परम शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है। यह सत्य मेरे अन्तर्हृदय मे गहरे पैठा हुआ है और मैं मानता हूँ कि मोक्ष ही आत्म–विकास की महायात्रा का गतव्य है।

सम्यक्त्व की प्रकाशकिरणे

ससार की प्रगाढ मोहग्रस्तता से मेरी आन्तरिकता जब पूरी तरह से व्यामोहित रहती थी, तब मैं अज्ञान के अधकार मे ही गोते लगाता था और इस मिथ्याज्ञान को ही सत्य मानता था कि जो कुछ इस ससार के सुख हैं, वे ही सच्चे सुख हैं तथा उन्हे येन केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने मे ही मुझे अपना सम्पूर्ण श्रम लगा देना चाहिये। इस मिथ्या ज्ञान पर ही मेरी श्रद्धा आधारित रहती थी अत यह श्रद्धा भी मिथ्या थी। मिथ्या ज्ञान एव मिथ्या श्रद्धा के आधार पर मेरे सभी कार्य कलाप भी तदनुसार चलते थे जिसके कारण मेरा आचरण भी मिथ्या था। यह सब मेरे आत्म स्वरूप पर छाया हुआ मिथ्यात्व का कलक था।

किन्तु जब मैंने नव तत्त्वो की जानकारी ली एव जीव–अजीव के सम्बन्धों की पहिचान की तो मुझे मिथ्यात्व का यथावत् रूप कुछ–कुछ समझ में आने लगा। क्या मिथ्यात्व है और क्या सम्यक्त्व है–इसका हल्का–सा आभास होने लगा। जब यह जाना कि जीव किस प्रकार की अपनी क्रियाओ

से पाप और पुण्य–दोनों प्रकार के कर्मो का क्षय कर सकता है तथा परम सुख रूप मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है तब अधकार की परते मेरे मन–मानस पर से हटने लगी। अधकार को चीरती हुई तब कुछ प्रकाश–किरणे वस्तु–स्वरूप का यथावत् दर्शन कराने लगी। मैं तब समझ पाया कि ये ही सम्यक्त्व की प्रकाश किरणे थी।

ज्यो–ज्यो मिथ्यात्व के काले बादल छटने लगे, त्यो–त्यो प्रकाश का घनत्व बढने लगा। मिथ्यात्वपूर्ण धारणाओं, श्रद्धानो तथा क्रियाकलापो मे जब शुद्धता एव वास्तविकता का प्रवेश होने लगा तब मुझे आन्तरिक आनन्द मिला और मेरे अन्तर्मन ने कहा कि यह सम्यक्त्व का प्रवेश है–धारणाओ, श्रद्धानो एव क्रिया कलापों को विशुद्ध बनाते रहने की प्रक्रिया का प्रारभ है।

मुझे याद है कि तभी तेरे अन्त करण मे मिथ्यात्व और सम्यक्तव का द्वन्द्व छिड गया था। प्रकाश के प्रकट होते ही अधकार में हडकम्प मच गया था। मेरी शनै शनै जागती हुई चेतना ने अधकार में फैले भय को महसूस किया था–मिथ्यात्व का खोखलापन जाहिर होने लगा था। अपनी चेतना की जागृति के बाद मिथ्यात्व का हौंसला भी ढीला पडने लगा था। उसकी आक्रामक शक्ति कमजोर होने लगी थी। सम्यक्त्व की प्रकाश किरणों की उपस्थिति मे मेरी चेतना को विश्वास होने लगा कि अब तक मिथ्यात्व को पकड कर वह जो अपने को निश्चित और सुखी मान रही थी, भ्रमपूर्ण था। और इस प्रकार उसका भ्रम टूटने लगा था।

मैं धीरे–धीरे सम्यक्त्व का स्वरूप समझने लगा। जैसे कमजोर नजर वाला चश्मा लगा कर स्पष्ट देखने लग जाता है, वैसे ही उस अधकार मे सम्यक्त्व का जो चश्मा मेरी दृष्टि पर चढा तो उससे मिथ्यात्व का मारक स्वरूप भी मुझे दिखाई देने लगा और सम्यक्त्व का तारक स्वरूप भी। विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलो से मुझे द्रव्य सम्यक्त्व मिला और केवली प्ररूपित तत्त्वो मे जो रुचि और श्रद्धा जमी, उससे मुझे भाव–सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। द्रव्य एव भाव सम्यक्त्व की उपस्थिति से मेरे आत्म स्वरूप को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाने का एक सुव्यवस्थित क्रम भी तब चल पडा। इसी क्रम से मेरी आशा बधी कि अब मेरी आत्मा गुणस्थानो के उत्कृष्ट सोपानो पर चढने लगेगी और एक दिन मोक्ष रूप परम सुख को प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य भी जुटा सकेगी।

तब मुझे सम्यक्त्व के विविध रूपो की भी अनुभूति होने लगी। मैंने

जाना कि सम्यक्त्व द्रव्य रूप भी होता है और भाव रूप भी। पौद्गलिक परिणमन उसका द्रव्य रूप है तो सम्यक्त्व तत्त्वो मे सम्यक् अभिरुचि के विकास से उसका भाव रूप बनता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व को निश्चय एव व्यवहार के दो रूपो मे भी देख सकते हैं। आत्मा का वह परिणाम जिसके होने से ज्ञान शुद्ध होता है, वह निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म में विश्वास करने का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के कारणो को भी व्यवहार सम्यक्त्व का ही नाम दिया जाता है। सम्यक्त्व का एक अन्य स्वरूप नैसर्गिक एव आधिगमिक सज्ञाओं से भी जाना जाता है। पूर्व क्षयोपशम के कारण बिना गुरु–उपदेश के स्वभाव से ही वीतराग–दृष्ट भावो को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नाम आदि निक्षेपो से जान लेना तथा श्रद्धा करना नैसर्गिक सम्यक्त्व है जैसा कि मरूदेवी माता को हुआ था। इसका आधिगमिक सम्यक्त्व गुरु आदि के उपदेश से अथवा अग उपाग आदि के अध्ययन से जीवादि तत्त्वो पर रुचि एव श्रद्धा होना कहलाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का स्वरूप पौद्गलिक तथा अपौद्गलिक माना गया है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पौद्गलिक सम्यक्त्व कहते हैं क्योकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में समकित मोहनीय के पुद्गलों का वेदन होता है। किन्तु अपौद्गलिक सम्यक्त्व में समकित मोहनीय का सर्वथा नाश अथवा उपशम हो जाता है, उसका वेदन नहीं होता है। यह क्षायिक और औपशमिक रूप सम्यक्त्व होता है।

एक अन्य दृष्टि से सम्यक्त्व को कारक, रोचक एव दीपक रूप मे भी परिभाषित किया गया है। जिस सम्यक्त्व के प्रकट होने पर चारित्र मे परिणति हो, अथवा जिस आचरण से सम्यक्त्व का आविर्भाव हो, जो स्वय में चारित्र का पालन करता हो व दूसरों को प्रेरित करता हो उस समय उसका कारक रूप दिखाई देता है। रोचक सम्यक्त्व वह है जिसमे आत्मा सदनुष्ठान (चारित्र) मे रुचि तो लेती है लेकिन स्वय सदनुष्ठान (चारित्र) का आचरण नही कर पाती है। यह रोचक रूप चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा को होता है। तीसरे, जो मिथ्या दृष्टि आत्मा स्वय तत्त्व श्रद्धान से शून्य होते हुए दूसरो मे उपदेशादि द्वारा तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करवाती है उस आत्मा के सम्यक्त्व का स्वरूप दीपक रूप होता है। दीपक सम्यक्त्वधारी स्वय तो मिथ्यात्वी होता है किन्तु उपदेश आदि रूप परिणाम द्वारा दूसरो मे सम्यक्त्त्व उत्पन्न करने में वह कारण रूप बनता है, इसी दृष्टि से उसे भी सम्यक्त्वी कहा है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक रूप भी होते

हैं। अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम ओपशमिक सम्यक्त्व होता है। अनन्तानुबन्धी चार कषायो के तथा दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो के क्षय होने पर जो परिणाम–विशेष प्रकट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षय से और अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व के उपशम से एव समकित मोहनीय के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

मैंने सम्यक्त्व के तीन लिगो (चिन्हों) की पहिचान की है जो इस प्रकार हैं–(1) श्रुत धर्म मे राग–जितना तरुण पुरुष रग–राग मे अनुरक्त रहता है, उससे भी अधिक शास्त्र–श्रवण मे अनुरक्त रहना, (2) चारित्र धर्म मे राग–जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य खीर आदि का आहार रुचिपूर्वक करना चाहता है, उससे भी अधिक चारित्र धर्म पालने की इच्छा रखना, तथा (3) देव गुरु की वैयावृत्य का नियम–देव और गुरु मे पूज्य भाव रखना और उनका मान–सम्मान रूप वैयावृत्य का नियम करना। सम्यक्त्व की तीन शुद्धियॉ भी इस दृष्टि से बताई गई है कि वीतराग देव, वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित धर्म एव वीतराग देव की आज्ञानुसार विचरने वाले साधु ही विश्व मे सारभूत है ऐसा विचार करना।

मैंने सम्यक्त्व के पॉच भेदो पर भी विचार किया है जो सम्यक्त्व के सभी पहलुओ पर रौशनी डालते हैं–(1) उपशम सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियो–कुल सात प्रकृतियो के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्व–रुचि रूप आत्म परिणाम उपशम सम्यक्त्व कहलाता है जिसकी स्थिति अन्तर्मुहुर्त की होती है। (2) सास्वादान सम्यक्त्व–उपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर आते हुए जीव के, मिथ्यात्व मे पहुॅचने से पहले जो परिणाम रहते हैं, वही सास्वादान सम्यक्त्व है। इस समय कषायो का उदय रहने से परिणाम निर्मल नहीं रहते। (3) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व–कषायों के उदय से प्राप्त मिथ्यात्व को क्षय करके अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुए जीव के परिणाम–विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। (4) वेदक सम्यक्त्व–क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सम्यक्त्व मोहनीय के पुज का अधिकाश क्षय करने वाला जीव जब समकित मोहनीय के आखिरी पुद्गलो को वेदता है, तब होने वाले आत्म–परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। तथा (5) क्षायिक सम्यक्त्व–कषाय व दर्शन मोहनीय की सातो प्रकृतियो

के क्षय होने से होने वाला जीव का तत्त्व रूप परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व सादि किन्तु अनन्त होता है।

मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है या नही–इसकी पहिचान सम्यक्त्व के लक्षणो के आधार पर ही की जा सकती है, अत सम्यक्त्व के लक्षणो को भलीभाति हृदयगम कर लेना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ जो इस प्रकार हैं (1) सम–तीव्रतम कषाय के उदय मे नहीं आने से जो शान्ति भाव उत्पन्न होता है उसे सम कहते हैं, (2) सवेग–मनुष्य एव देवता जातियो के सुखो का परिहार करके मोक्ष के सुखो की अभिलाषा रखने का नाम सवेग है, (3) निर्वेद–ससार से उदासीनता रूप वैराग्य–भाव का होना निर्वेद कहलाता है, (4) अनुकम्पा–निष्पक्ष होकर दु खी प्राणियो के दु खो को मिटाने की भावप्रवणता का नाम अनुकम्पा है। यह द्रव्य और भाव रूप होती है। शक्ति होने पर दु खी जीवो के दु ख दूर करना द्रव्य अनुकम्पा है तो दु खी जीवो के दु ख देखकर दया से हृदय का कोमल हो जाना भाव अनुकम्पा है (5) आस्तिक्य–वीतराग देवो द्वारा उपदेशित तत्त्वो पर श्रद्धा रखने का नाम आस्तिक्य है।

सम्यक्त्व से सम्बन्धित इस शास्त्रीय विवेचन से यह मुझे स्पष्ट हो गया है कि नवतत्त्व एव षड् द्रव्यो के स्वरूप मे अर्थात् ससारी जीव को सिद्ध स्वरूप बनाने की प्रक्रिया मे दृढ आस्था हो जाने का नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के मूलाधार रूपी आस्था के ये छ स्थान कहे गये हैं– (1) चेतना लक्षण जीव का अस्तित्व है, (2) जीव शाश्वत अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित है, (3) जीव कर्मो का कर्त्ता है, (4) अपने किये हुए कर्मो का जीव स्वय भोक्ता है, (5) राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोगादि का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष है तथा (6) सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो मिल कर मोक्ष का मार्ग है।

मेरा विचार है कि सम्यक्त्व के उल्लिखित सडसठ बोलो के माध्यम से सम्यक्त्व का चहुमुखी स्वरूप सुबोध हो जाता है, वे भेद इस प्रकार हैं–श्रद्धा 4 (परम अर्थ परिचय, परम अर्थ सेवा, मिथ्या की सगत नहीं, पाखडी की सगत नहीं), लिग 3 (तरुण की रागरग रुचि से अधिक धर्म रुचि, भूखे को खीर की इच्छा से भी अधिक धर्माभिलाषा, वैयावृत्य), विनय 10 (अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, सघ, स्वधर्मी, क्रियावन्त का यथायोग्य सम्मान), शुद्धि 3 (वीतराग देव, वीतराग धर्म तथा वीतराग आज्ञा मे चलने वाले साधु को ही लोक मे सारभूत मानना), लक्षण 5 (सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था), दूषण 5 (शका, काक्षा, वितिगिच्छा, पर पाखडी

प्रशसा, पर पाखडी परिचय), भूषण–5 (धीरजवन्त, दिपावनहार, भक्ति–भावी, चतुर, सघ सेवक), प्रभावक 8 (सूत्र ज्ञान, प्रबोध, यथार्थ वाद–विवाद, त्रिकाल ज्ञान, तपश्चर्या, विद्या ज्ञान, प्रसिद्ध व्रत, शास्त्र प्रयोग), आगार 6 (देवता, राजा, माता–पिता, पच, बलवन्त, अटवी मे भय) जयणा 6 (आलाप, सलाप, दान, प्रदान, वन्दना, गुणग्राम), स्थानक 6 (नगर मे द्वार समान, वृक्ष मे बीज समान, दुकान मे वस्तु समान, मजूषा मे रत्न समान, थाल मे भोजन समान, किले मे कोट समान), भावना 6 (चेतना लक्षण, द्रव्य शाश्वत्, आत्मा कर्त्ता, भोक्ता, भवि को मोक्ष, मोक्ष मार्ग) सार रूप मे सम्यक्त्व की सक्षिप्त परिभाषा यह है कि वीतराग देवो द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना।

सम्यक्त्व की ईट पर मोक्ष का महल

मिथ्यात्व का स्वरूप एव नौ तत्त्वो का विश्लेषण समझ लेने के बाद मेरे सामने सम्यक्त्व का स्वरूप स्पष्टतर हो गया है। एक महल बनाया जाता है किन्तु उसके अनुसार ही उसकी नीव भी होनी चाहिये। नींव अगर कमजोर हो और महल बडा व सुन्दर भी बना लिया जाय तब भी क्या वह टिका रहेगा ? उसकी मजबूती नही मान सकते हैं। नींव की ईंटे जितनी पुख्ता होगी, महल की मजबूती भी उतनी ही पक्की बनेगी। इस दृष्टि से यह मानने मे मुझे कोई सकोच नहीं है कि सम्यक्त्व रूपी नीव की ईंटों के आधार पर ही मोक्ष का महल बनता है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनो दो प्रकार की नीव की ईंटे हैं। मिथ्यात्व ससार के नश्वर सुखाभासो का महल खडा करता है तो सम्यक्त्व की नीव पर मोक्ष का महल खडा होता है जो एक भव्य एव विकासशील आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है। सम्यक्+त्व का अर्थ होगा सत्यपना याने कि सत्य पर आत्म विकास की महायात्रा को प्रतिष्ठित करना। सत्य मे मन, वाणी और कर्म का समावेश होना चाहिये। सम्यक्त्व इन तीनो प्रकारो मे जब फैल जाता है तभी आत्म विकास की बुनियाद बनती है। यह बुनियाद है सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर पूर्ण श्रद्धा–जिसके कारण सम्यक्त्व का उद्भव होता है तथा मन, वाणी एव कर्म की समस्त वृत्तियों एव प्रवृत्तियो मे सम्यक्त्वरूप शुभता का प्रसार तथा विस्तार।

मैं इसे एक श्रेष्ठ विशिष्टता मानता हूँ कि इस सम्यक्त्व मे कही भी साम्प्रदायिकता अथवा व्यक्ति–पूजा को कोई स्थान नही है। इस मान्यता मे न तो किसी देव विशेष के प्रति हठाग्रह है एव न किसी गुरु विशेष या धर्म

विशेष के प्रति पक्षपातपूर्ण भाव। सत्य की कसौटी पर जो देव सुदेव सिद्ध होते हें अथवा कि जो गुरु या धर्म 'सु' के विशेषण से विभूषित होते हैं, वे ही एक सम्यक्त्वी के लिये आराध्य हें। इसी कसोटी पर कसकर देवस्थान पर वीतराग देव को मान्यता मिली है, क्योकि वीतराग देवो की महान् आत्माओ ने सासारिकता के बीज रूप राग एव द्वेष को व्यतीत करके परम विशुद्ध स्वरूप ग्रहण कर लिया। चाहे वे वीतराग महावीर हुए हो या अन्य कोई देव सभी सुदेव हैं तथा उनका दिव्य स्वरूप ही श्रद्धा का विषय है। उन्होने जो कुछ उपदेश आत्म विकास के सम्बन्ध मे अपने स्वानुभव से दिया हे, वही धर्म रूप मे प्रतिष्ठित माना जाना चाहिये। इस प्रतिष्ठा से ही वह सुधर्म कहलाता है। ऐसे वीतराग देवो की आज्ञा मे जो चलते हैं तथा ऐसे सुधर्म का जो प्रचार करते हैं, वे ही सुगुरु रूप मे सम्मान पाते हैं। यहॉ कोई हठाग्रह, भेदभाव अथवा पक्षपात नहीं है कि किसी देव, गुरु या धर्म विशेष को ही माने। यह तो सम्यक्त्वधारी की सद्बुद्धि एव परीक्षा–बुद्धि का विषय है कि वह सत्य को समझे तथा देव, गुरु एव धर्म के 'सु' स्वरूप को अपनी श्रद्धा का केन्द्र बनावे।

सम्यक्त्व की इसे ही मैं बुनियाद समझता हूँ जिसके आधार पर सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा एव सम्यक् आचरण से परिपूर्ण जीवन का निर्माण किया जा सकता हे। यही वह ईंट है जिस पर मोक्ष का महल खडा किया जा सकता है। नीव की ईट अगर मजबूती से जम गई है तो आगे के निर्माण के प्रति निश्चित बना जा सकता है। एक सम्यक्त्वधारी सदा सावधान रहता हे कि वह अपने सत्पथ से भटके नहीं। यदि कभी किसी कारण से कुछ भटकाव आ भी जाता है तो वह अपने आत्म नियत्रण के बल पर उस भटकाव को समझ जाता है और जल्दी से जल्दी उसे दूर कर देता है। फिर वेसा भटकाव न आ सके– इस हेतु से वह निरन्तर अपनी आत्मालोचना करता रहता है। इस प्रकार आत्म चिन्तन एव आत्म दमन के उपायो से वह अपने सम्यक्त्व के विस्तार एव विकास के लिये अथक पुरुषार्थ करता रहता है। मे मानता हू कि आत्मा को एक बार सम्यक्त्व का आलोक प्राप्त हो जाय–यह उसकी एक बहुत बडी उपलब्धि होती है।

आत्म–नियत्रण का धरातल

मैंने एक बार जब सम्यक्त्व का आलोक पा लिया तो उससे मिथ्यात्व का अधकार मिटने लगा ओर मुझे एक ओर जीवादि नवतत्त्वो का ज्ञान मिल गया तो दूसरी ओर सुदेव सुगुरु तथा सुधर्म की सही पहिचान हो गई। इस

कारण मेरे सामने आत्म विकास का महान् क्षेत्र दृष्टिगोचर होने लगा। इस दशा मे मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपनी श्रद्धा को सुदृढ बनाऊ तथा प्राप्त सम्यक् ज्ञान के प्रकाश मे अपने समग्र आचरण को सम्यक् बनाता चलू।

इस प्रक्रिया की सफलता के लिये मैं अपने लिये आत्म–नियत्रण का धरातल तैयार करना आवश्यक समझता हूँ। यह आत्म–नियत्रण क्या है तथा केसे बनेगा इसे मैं समझ लू।

आत्म–नियत्रण का अर्थ है अपने आपको काबू मे रखना। में सोचता हूँ कि यह 'आप' कौन हे और इसको काबू मे कोन रखेगा ? तब मुझे मेरे 'मैं' की अनुभूति होती है और जिसको जिसकी यह अनुभूति होती है–दोनो मेरा 'मैं' ही होता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'मैं' ही 'मैं' को नियत्रण मे रखेगा अर्थात् सम्यक्त्वधारी ओर सजग आत्मा ही अपने आप को नियत्रण मे रखेगी तथा यही आत्म–नियत्रण का अनुभाव है।

अब यह स्थिति और समस्या मेरे सामने आती है कि मैं आत्म–नियत्रण कैसे रखू ? जैसे कोई सत्ता के किसी पद पर बैठा हुआ हो वह हर समय अपनी सत्ता का ध्यान रखता है कि उसके प्रत्येक कार्य मे उसकी सत्ता झलकती हो तो उसके सभी अधीनस्थ उसकी सत्ता का मान और पालन करते हो। यह ध्यान वह एक पल के लिये भी नही भूलता है। यदि कोई अपनी बाहरी सत्ता के शासन के प्रति भी इतना जागरूक रह सकता है तो एक बार सम्यक्त्व का प्रकाश पाकर भला वह अपनी भीतरी सत्ता का उससे भी अधिक ध्यान रखना क्यो नही सीख जायगा ?

मैं जब अपनी भीतरी सत्ता का ध्यान करता हू तो भीतरी शासन का नक्शा मेरे ज्ञान–चक्षुओ के समक्ष खिच जाता है। 'में' शासक हू और मेरा शासन है अपने आप के ऊपर तथा अपनी इन्द्रियो ओर अपने मन के ऊपर। यह शासन मुझे इस तरह चलाना है कि मेरा बाहरी जीवन भीतर मे उपजे प्रकाश को पकडे और बाहर के क्रिया–कलाप शुद्धता का स्वरूप ग्रहण करे। प्रतिक्षण मेरी सावधानी रहे–सबसे पहले मेरे अपने मे लगने वाले विषय–कषाय के झोके, राग–द्वेष के थपेडे और प्रमाद के हिडोले कही मुझे मोहाविष्ट बनाकर बेभान न करदे, क्योकि मैं स्वय बेभान हो गया तो मेरी नियत्रण की डोर भी ढीली पड जायगी। फिर मन और इन्द्रियों के बहकने को कौन रोकेगा तथा वे बहकते रहे तो मेरा भान वापस लौटना कठिन हो जायगा।

इस कारण मैं आत्म–नियत्रण को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहता हू। मेरे 'मैं' को मैं नियत्रण मे रख लेता हू तो फिर मेरा मन और मेरी इन्द्रियॉ

अनुशासन नही तोड सकेगी। मेरे नियत्रण से इनका नियत्रण होगा तो वह सयुक्त नियत्रण मेरे सम्पूर्ण आत्मा स्वरूप की सासारिकता के विकारो की कालिख से बराबर रक्षा करता रहेगा।

आत्मालोचना का क्रम

मैं सोचता हू कि आत्म–नियत्रण एक अकुश का काम करेगा तो आत्मालोचना निर्मल जल का। एक हाथी को अकुश से नियत्रित किया जाता है। सामान्यतया यह नियत्रण चलता है। किन्तु कभी ऐसा भी हो जाता है कि महावत के नियत्रण के बावजूद मस्ती मे वह धूल अपने शरीर पर उछाल कर उसे मैला बना देता है। तब महावत साफ पानी से उसके शरीर को धोकर साफ करता है। इसी प्रकार मैं अपने मन, वचन एव कर्म पर अपना नियत्रण स्थापित करता हू किन्तु सासारिक परिस्थितियाँ बडी जटिल होती हैं और कई बार मैं उनसे प्रभावित हो जाता हू। और परिस्थितियो के दबाव से मैं कभी–कभी आत्म–नियत्रण से फिसल जाता हूँ। ऐसे समय पर यदि मैं निष्क्रिय रहू तो वह फिसलन और उससे मेरा पतन बढता रह सकता है, किन्तु मैं अपनी सम्यक्त्वी सक्रियता कभी नहीं त्यागता। तब मैं आत्मालोचना की पद्धति अपनाता हूँ। वह यह कि दिन भर के अपने अच्छे–बुरे क्रियाकलापो का लेखा–जोखा मैं सायकाल और रात भर का लेखाजोखा प्रात काल लेता हूँ। और अवधि की दृष्टि से प्रति पक्ष और आगे प्रति सवत्सर भी व्यापक रूप से लेखा–जोखा लेता हू। इसका परिणाम यह होता है कि मैं अपनाई गई तथा अपनाई जाने वाली वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को परीक्षा बुद्धि से जाचता–परखता हूँ कि उनमे कितना खरापन रहा और कितनी खोट रही ? फिर आगे के लिये सकल्प लेता हूँ कि जितना खरापन है उसे बढाऊ तथा जितनी खोट है उसे घटाऊ और खत्म करू।

आत्मालोचना का यह क्रम मैं नियमित रूप से चलाता हू जिससे मेरी अपनी भीतरी झाकी मुझे दीखती रहती है। उस झाकी के सामने रहने से वास्तव मे होता यह है कि प्रायश्चित से पूर्व कृत पाप–कार्यो के सम्बन्ध मे मेरा अन्त करण धुल कर स्वच्छ बनता है तो उसमे नित नवीन जागृति भी पैदा होती है कि किये हुए पाप कार्यों की पुनरावृत्ति न हो तथा जो अशुभता वर्तमान मे है उसे भी शुभता मे बदलते जावे। इस तरह आत्मालोचना निर्मल जल का काम करती है जिससे मन का मैल धुलता रहता है। इस क्रम का यह प्रभाव होता है कि धुलते–धुलते मैल की जमावट कम होती जाती है तो चेतना के अत्युच्च विकास के साथ दर्पणवत् प्रतिबिम्ब विशुद्ध होते जा रहे

कर ले तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। (2) प्रतिचारणा–सयम के सभी अगो मे भली प्रकार चलना ओर सावधानतापूर्वक सयम को निर्दोष पालना। इसका भाव रूप यह है कि आचार्य रूपी सेठ ने सयम रूपी महल की साल–सम्हाल करने की आज्ञा दी। एक साधु ने प्रमाद ओर शरीर के सुख मे पडकर उसकी बेपरवाही की। वह ससार मे दुख पाने लगा। दूसरे साधु ने सयम रूपी महल की अच्छी तरह साल–सम्हाल की–रोज उसे बार–बार देखता रहता और जरा–सी भी तरेड वगेरा दीखती तो तुरन्त मरम्मत कर लेता। वह मोक्ष रूपी सुख का भागी हो गया। (3) परिहरणा–सब प्रकार से छोडना अर्थात् वीतराग रूपी कुलपुत्र मनुष्य भव रूपी गोकुल से निर्दोष चारित्र रूपी दूध लाने की आज्ञा देते हें। उस के दो मार्ग हैं–जिनकल्प ओर स्थविर कल्प। जिनकल्प का मार्ग सीधा पर अति कठिन होता है जिस पर उत्तम सहनन वाले महापुरुष ही चल सकते हैं। स्थविरकल्प का मार्ग उपसर्ग, अपवाद आदि के कारण लम्बा होता है। जो जिनकल्प के मार्ग का सामर्थ्य नहीं रखता फिर भी उस पर चलता है, वह सयम रूपी दूध के घडे को रास्ते मे ही फोड देता है–चारित्र्यपतित हो जाता है। लेकिन जो समझदारी से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार सयम की रक्षा करते हुए धीरे–धीरे चलता है और स्थविरकल्प के मार्ग को अपनाता है, वह अन्त मे सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। (4) वारणा–इसका अर्थ होता है निषेध। जिसका भाव रूप है कि वीतराग रूपी राजा विषय भोगो को विष मिले पानी और अन्न को समान बताकर लोगो को उनसे दूर रहने की शिक्षा देते हैं। जो उनकी शिक्षा नहीं मानते, वे भवचक्र मे भटकते रहते हें किन्तु जो उस निषेध को मान लेते हैं, वे भव चक्र से छूट जाते हें। (5) निवृत्ति–किसी काम से हट जाना। इसका भाव रूप है कि सयम भी एक प्रकार का युद्ध है। यदि उससे कोई भाग खडा होता है तो उसे लोगों की अवहेलना मिलती है किन्तु वह युद्ध मे लौट आता है और आलोचना व प्रतिक्रमण करके गुरु की आज्ञानुसार चलने लगता है तो वह सयम मे स्थित हो जाता है। (6) निन्दा–आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ कर्मो को बुरा समझना निन्दा है। आत्म–निन्दा द्वारा एक साधक प्रतिदिन अपने से कहे–हे आत्मन् नरक तिर्यच आदि गतियो मे घूमते हुए अब तूने मनुष्य भव प्राप्त किया है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी तुझे मिला है। इन्ही के कारण तू माननीय भी हुआ है। अब घमड मत करो कि मैं बहुश्रुत या उत्तम चारित्र वाला हू। (7) गर्हा–गुरु की साक्षी से अपने किये हुए पापो की निन्दा करना गर्हा है। अपने दुष्चरित्र की निन्दा करने से पापकर्म ढीले पड जाते हें और पाप हल्का हो जाता हे।

पाप के हल्के होने से साधना की सुदृढता बढ जाती है। (8) शुद्धि—तपस्या आदि से पाप कर्मो को धो डालना शुद्धि है। साधक को भी काल का उल्लघन किये बिना आचार्य के पास अपने पापो की आलोचना कर लेनी चाहिये। यही भाव शुद्धि हे। आत्मनिन्दा रूपी औषधि से अतिचार रूपी विष दूर हो जाता है।

मेरा दृढ विश्वास है कि प्रतिक्रमण रूप आत्मालोचना का क्रम निरन्तर नियमित रूप से चलता रहे तो मेरी आत्मा पाप—कार्यो मे उलझ—उलझ कर भी सुलझती जायगी ओर शनै शनै पाप के बोझे को हल्का बनाती जायगी।

आत्म समीक्षण से स्वरूप दर्शन

नियमित रूप से निरन्तर की जाने वाली आत्मालोचना से मुझे यह सुफल प्राप्त होगा कि मैं प्रतिक्षण अपने आत्म—स्वरूप के प्रति सावधान हो जाऊगा। इससे मेरी आत्म—समीक्षण की प्रवृत्ति बन जायगी। मैं प्रतिक्षण सावधानी पूर्वक जब अपनी आत्मा की समस्त वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को देखता रहूगा, जाचता एव परखता रहूगा तो प्रतिक्षण अपने आत्मस्वरूप को देखता भी रहूगा और यह देखना ही मेरा आत्म—समीक्षण का रूप ले लेगा। सम्यक् प्रकार से अर्थात् समतापूर्वक देखना समीक्षण कहलाता है और यह प्रक्रिया जब अपनी ही आत्मा के साथ चलेगी तब वह आत्म—समीक्षण की प्रक्रिया होगी।

मैं आत्म—समीक्षण की अपनी इस प्रक्रिया मे दखने के साथ जो 'सम' शब्द लगा हुआ है उसको विशेष महत्त्व देना चाहता हू। मेरा देखना समतापूर्वक होगा—पक्षपातपूर्वक अथवा हठाग्रहपूर्वक नहीं। अपनी ही वृत्तियो को समभावपूर्वक देखना यद्यपि बडा कठिन कार्य होगा, फिर भी अभ्यासपूर्वक जब मैं ऐसा करने लगूगा तब अपनी चित्तवृत्तियो को सम्यक् रीति से देखना मेरी साधना का एक अनिवार्य अग बन जायगा। जैसे किसी वस्त्र को धोने से पहले यह जान लेना आवश्यक होता है कि उस पर कितने और किस प्रकार के दाग लगे हुए हें और उनको धोने के लिये किस साधन से किस प्रकार का प्रयास करना पडेगा, उसी प्रकार आत्म—स्वरूप की परिशुद्धि की दृष्टि से यह आत्मसमीक्षण अनिवार्य रूप से मुझे करना ही होगा। इसके बिना मेरा उसे शुद्ध बनाने का प्रयास अधूरा ही रहेगा तथा अविचारणा के साथ उसके विफल हो जाने की भी पूरी आशका बनी रहेगी।

मैं आत्म–समीक्षण के माध्यम से अपनी आत्म–वृत्तियो का सम्यक् एव सूक्ष्म अवलोकन करता रहूगा और यह जानते रहने की चेष्टा करूगा कि मेरे मन पर किस प्रकार की अप्रशस्त वृत्तियो ने आक्रमण कर रखा है ? मन के स्वच्छ पटल पर कितने–कितने और कैसे–कैसे चिकने दाग लगे हुए हैं ? वह कलुषितता कितनी गहरी है तथा उसे धोने के लिये मुझे साधना किस रूप मे ढालनी होगी ? इन सब प्रश्नो पर मुझे गहरा चिन्तन करना होगा और और आत्मदमन के उपायो से मन की चादर को धोनी होगी।

आत्म–समीक्षण इस प्रकार मेरे आत्म–विकास के लिये एक अमूल्य साधन सिद्ध होगा क्योकि समीक्षण से स्वरूप दर्शन की निरन्तरता मेरे सामने बनी रहेगी। किन्तु आत्म–समीक्षण की उपयोगिता इस स्तर तक ही हो–ऐसी बात नहीं है। आत्म–समीक्षण की उपयोगिता मेरी आत्म–विकास की महायात्रा में अन्त तक बनी रहेगी। स्वरूप दर्शन की अत्युच्च पराकाष्ठा तक यह प्रक्रिया मुझे असीमता में रूपान्तरित करती रहेगी। अभी प्रारम्भ मे तो यह मेरे लिये मात्र निर्देशक का ही काम करेगी किन्तु बाद मे तो समीक्षण वृत्ति मेरे मन–वचन एव कर्म की समस्त योग क्रिया का केन्द्र ही बन जायगी।

मैं मानता हू कि आत्म–समीक्षण कोई सामान्य प्रक्रिया नहीं होती है। यह मेरी अन्तर्प्रज्ञा के चक्षुओ को उघाड देगी। ज्ञान–चक्षुओ से आन्तरिकता के निरीक्षण–परीक्षण की कोई सीमा नहीं होती है जबकि बाहर के चक्षुओ की अपनी दृष्टि–सीमा होती है। स्वरूप दर्शन की उत्कृष्टता के साथ निरीक्षण–परीक्षण की यह सीमा निरन्तर फैलती ही जाती है और ज्ञान चक्षुओ का प्रकाश बढता ही जाता है। यह प्रकाश ही तब मेरा आत्म–प्रकाश बन जायगा। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मेरी यह आत्म–समीक्षण की प्रक्रिया समत्वपूर्वक ही प्रारम्भ होनी चाहिये तथा समत्वपूर्वक ही चलती भी रहनी चाहिये। सम्यक्त्व और समताभाव इस प्रक्रिया के आधारगत बिन्दु होने चाहिये। जैसे कि किसी मधुर खाद्य पदार्थ की तरफ मेरे मन की अत्यधिक आसक्ति बढी तो मैं उस आसक्ति से दूर हटने के लिये उस खाद्य पदार्थ का इच्छापूर्वक त्याग ही कर दूगा। इसके साथ ही अपने मन को ऐसा कठोर निर्देश भी दूगा कि वह फिर से ऐसे आकर्षण के प्रति आसक्त और लिप्त न हो। यह निश्चित है कि मेरे ऐसे निर्देशो को दीर्घ काल के अभ्यास के बाद ही सफलता प्राप्त हो सकेगी। समय अवश्य लगेगा किन्तु इस अभ्यास से उन निर्देशो की प्राभाविकता भी स्थायी स्वरूप ग्रहण करती जायगी।

मैं मेरे मन को ऐसे कठोर निर्देश देते समय इस बात का ध्यान रखूगा कि विवशतावश अथवा प्रमादवश होने वाली भूलो को मैं उसी क्रम से तथा उतनी ही सक्रिय सशक्तता से परिमार्जित करने का कार्य करूगा जिस क्रम से वे उत्पन्न हुई थी। इस पद्धति को अपनाने से मेरा आत्म–समीक्षण एक वैज्ञानिक रूप ले लेगा। यह सही है कि सभी भूलो का समीक्षण, निरीक्षण अथवा परिमार्जन एक ही साथ होना सभव नहीं होगा, किन्तू स्थूल प्रवृत्तियो पर नियत्रण करते हुए मेरा नियत्रण तदनन्तर सूक्ष्म वृत्तियो के परिष्कार तक भी पहुचता हुआ चला जायगा।

आत्म–समीक्षण से मेरी आत्म–चिन्तन तथा आत्मदमन की क्रिया बलवती बनेगी और जब तक मैं इसमे साधन रूप से सलग्न रहूगा तब तक मेरा अन्त करण उत्साह और उमग से परिपूरित रहेगा और भीतर की जिज्ञासा जागती रहेगी कि मैं अपनी साधना के आगामी चरणो को सुनिश्चित करता रहू। तब मेरी साधना का क्रमिक विकास होता चला जायगा। समीक्षण पूर्वक आत्म–चिन्तन एव आत्म–सशोधन ही उसका आधार बनेगा।

मैं प्रति रात्रि के प्रथम एव अन्तिम प्रहर मे स्वय आत्मा का निरीक्षण करूगा और विचार करूगा कि मैंने कौनसे अपने कर्त्तव्य पूरे किये हैं तथा कोनसे कर्त्तव्य पूरे करना शेष है और किन–किन शक्य अनुष्ठानो का मैं आचरण नही कर रहा हू ? मैं चिन्तन करूगा कि दूसरे लोग मुझ मे क्या दोष देख रहे हैं और मुझे अपने–आपमे क्या–क्या दोष दिखाई दे रहे हैं। इन दोषों के बारे मे मैं अपने–आपसे ही प्रश्न करूगा कि क्या मैं इन दोषो को नही छोड रहा हू ? तब मैं सकल्प लूगा कि सम्यक् रीति से अपने दोषो को देखते हुए भविष्य मे मैं ऐसा कोई दोषपूर्ण कार्य नही करूगा जिससे कि मेरी साधना मे बाधा पहुचे। मैं जब भी अपनी आत्मा को मन, वचन एव काया सम्बन्धी दुष्ट व्यापारो मे लगी हुई रखूगा, उसी समय उसे शास्त्रोक्त विधि से दुष्ट व्यापार से हटाकर सयम व्यापार मे लगा दूगा। जैसे आकीर्णक जाति का घोडा लगाम के नियत्रण मे रहकर सही रास्ते पर चलता जाता है, उसी प्रकार मैं अपनी आत्मा के विधिपूर्वक एव नियत्रणपूर्वक सयम के राजपथ पर चलता रहूगा। मैं जानता हूँ कि जो आत्मा पवित्र भावनाओ से शुद्ध हो जाती है, वह जल पर चलने वाली सुघड नौका के समान बन जाती है। वैसी आत्मा ही सुघड नौका की तरह ससार रूपी महासागर के उस पार पहुँच कर अपने को सभी प्रकार के दु खो से मुक्त कर लेती है।

आत्म–चिन्तन की पावन धारा मे प्रवाहित होते हुए मुझे अनुभूति होती है कि आत्मा को वश मे करना अति कठिन कार्य हे, फिर भी उसका सशोधन करते रहना चाहिये क्योकि जो अपनी आत्मा को विषयो की दृष्टि से वश मे कर लेता है, वह इहलोक और परलोक दोनो जगह सुखी बनता है। दूसरे लोग वध, बन्धन आदि साधनो से मेरा दमन करे–इसकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मैं ही सयम और तप का आचरण कर अपने आप ही अपना दमन करू। यह दमन अपनी आत्मा को विषयो की ओर जाने से रोकने के रूप मे होगा। समस्त इन्द्रियो को अपने–अपने विषयो की ओर जाने से रोककर मैं पापो से अपनी आत्मा की रक्षा करूगा क्योकि पापो से अरक्षित आत्मा ही ससार–परिभ्रमण करती है और सुरक्षित आत्मा ससार के सभी दु खो से मुक्त हो जाती है। मैं सोचता हू कि श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मैं मनोज्ञ शब्दो मे राग नही करूगा और अमनोज्ञ शब्दों से द्वेष भी नहीं करूगा। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियो के निग्रह से मैं राग–द्वेष के कारणक कर्मों का बध नहीं करूगा और पुराने बाधे हुए कर्मो की निर्जरा भी करूगा। जब–जब भी मुझे मेरी इन्द्रियॉ अपने–अपने विषयो की तरफ दौडाकर मुझे पीडित बनायगी, तब–तब मैं नीरस भोजन करने लगूगा, अल्प भोजन करूगा, खडा रह कर कायोत्सर्ग करूगा और आवश्यकता समझूगा तो आहार का कतई त्याग कर दूगा किन्तु काम भोगो की ओर मन को नहीं जाने दूगा तथा अपनी साधना को विकृत नहीं होने दूगा। मेरा जब ऐसा निश्चय बन जायगा कि चाहे शरीर छूट जाय परन्तु वीतराग देव की आज्ञा का उल्लघन न करू, तब मुझे मेरी इन्द्रियॉ सयम–पथ से विचलित नहीं कर सकेगी। मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन रूपी घोडा बडा उद्दड, भयकर और दुष्ट है तथा उन्मार्ग की ओर दौडता रहता है, मैं यह भी समझता हू कि मे इसे धर्म शिक्षा के द्वारा ही अपने वश मे करके सम्यक् मार्ग पर दौडा सकता हू। इन्द्रियो और मन के सारे विषय रागी–मनुष्य के लिये दु खदायी होते हैं किन्तु वीतराग पुरुष को ये विषय कभी तनिक–सा भी दु ख नहीं दे सकते हैं–ऐसा सोचकर मैं राग और द्वेष को जीतने तथा मोक्ष की ओर आगे बढाने वाली कठिन साधना मे निरत बना रहूगा। यही मेरा आत्म–समीक्षण से आत्मचिन्तन तथा आत्म–दमन का क्रम होगा जिससे मैं भलीभाति अपने स्वरूप–दर्शन करूगा तथा निरन्तन करता रहूगा।

परिमार्जन, सशोधन व सशुद्धि

आत्म–स्वरूप के निरन्तर निरीक्षण–परीक्षण की प्रक्रिया से मैं जब अपने दोषो को पहिचान लूगा, उनके कारणो को जान लूगा तथा उनके

घनत्व को भी समझ लूगा तब उन्हे परिमार्जित कर लेने की मेरी अभिलाषा प्रबल बन जायगी, क्योकि मैं यह भी सुनिश्चित कर सकूगा कि किस प्रकार की साधना के बल पर उन दोषो का सफलतापूर्वक परिमार्जन हो सकेगा ?

मेरी प्रक्रिया तब त्रिरूपवती हो जायगी—परिमार्जन, सशोधन एव सशुद्धि की प्रक्रिया। परिमार्जन याने मैल को मिटाना, सशोधन याने स्वरूप को सुधारना तथा सशुद्धि याने मैल को पूरी तरह धोकर स्वरूप को शुद्ध बना लेना। जैसे किसी धब्बो वाले कपडे को उजला बनाना हो तो पहले उसके चिकने धब्बो पर किसी ऐसे रसायन का प्रयोग करना पडेगा जिसके असर से उन धब्बो का मैल गलकर मिटने लगे। फिर पूरे कपडे पर साबुन आदि का प्रयोग करना पडेगा जिससे कि उसका समूचा स्वरूप सुधरने लगे। उसके बाद साफ पानी से धोकर उसे पूरी तरह उजला बना सकेगे। यही क्रिया मेली आत्मा को उजली बनाने के लिये भी करनी होगी। यदि निष्ठापूर्वक मैं इस त्रिरूपवती क्रिया पर आचरण करू तो कोई कारण नही कि मैं अपने आत्म—स्वरूप को परम विशुद्ध न बना सकू।

मैं मानता हू कि परिमार्जन, सशोधन एव सशुद्धि की प्रक्रिया निरतर क्रियाशील प्रक्रिया बन जाती है क्योकि मेरा 'मैं' एक पल के लिये भी निष्क्रिय नही होता है। मैं निरन्तर कोई न कोई क्रिया करता रहता हू और उस क्रिया से सम्बन्धित कर्म बध मेरे होता रहता है। अशुभ क्रिया होगी तो अशुभ कर्मो का बध होगा और उसके कारण मेरे आत्म—स्वरूप पर मैल की एक और परत चढेगी। उस मैल को माजने, सुधारने व धोने की प्रक्रिया भी तब मैं साथ—साथ मे चलाऊगा। किन्तु शुभ क्रिया कर्मो का बध होगा तब भी मुझे उनके शुभ फल का उपभोग करना होगा। शुभ फल का उपभोग करते समय सच पूछे तो मेरी सावधानी ओर अधिक बढ जानी चाहिये। प्रतिकूलताएँ सामने आती हैं और दु खदायी होती हैं—इस कारण उनसे सफल सघर्ष करना फिर भी सरल होता है। परन्तु अनुकूलताओ के सुख के समय उनमे रहे हुए आकर्षण को समझना, अपने क्रियाकलापो को सयमित रखना और सबसे ऊपर सम्यक्त्व एव समभाव को प्रखर बनाये रखना अपेक्षाकृत बहुत कठिन होता है। यदि उस समय मे मुग्धता, प्रलुब्धता तथा मोहाविष्टता का भाव समा जाय तो वे अनुकूलताएँ आत्मा के किये कराये परिश्रम को तो नष्ट कर ही देती है अपितु असज्ञा के ऐसे दलदल मे पुन फसा देती है और आत्मस्वरूप को मिथ्यात्व के काले रग में इस तरह रग देती है कि उस दलदल से बाहर आना और काले रग को मिटाना एक भगीरथ कार्य हो जाता है।

अत में अनुकूलताओ की उपस्थिति मे अपने–आपको अधिक जागरूक बना लेता हू ओर वह भी दो प्रकार से। एक तो उस प्राप्त अनुकूल सुख सुविधा मे अपने को कतई असयमित नही बनाऊ तो दूसरे, उन अनुकूलताओ को अपने आत्म–विकास की सहयोगी सामग्री बनालू। समझिये कि यह मनुष्य जीवन जो मुझे मिला है। वह एक सुखदायी अनुकूलता है क्योंकि इसके कारण मेरी इन्द्रियॉ और मेरा मन केसा भी अनुभव लेने मे सक्षम है। एक प्रकार तो यह हो सकता हे कि मैं काम भोगो की तरफ आकृष्ट हो जाऊ तथा इन्द्रियो व मन के विषयो मे रम जाऊ। जिनेश्वर के सिद्धान्तो के प्रतिकूल श्रद्धा वाला बन जाऊगा। यह दशा मिथ्यात्व की हो जाती हे। दूसरा प्रकार होगा कि मैं प्राप्त इस मनुष्य जीवन का आत्म–साधना के हित मे पूर्ण सदुपयोग करू। यह मेरी आत्मा की जागृत अवस्था होगी तथा ऐसे समय मे सम्यक्त्व का मेरे भीतर सद्भाव होगा।

अत परिमार्जन, सशोधन एव सशुद्धि की प्रक्रिया के प्रति मेरी जितनी अधिक सावधानी होगी, उतना ही मैं प्रतिकूलताओं मे तथा अनुकूलताओ में भी अपने–आपको सयम मे स्थिर रख सकूगा। मिथ्यात्व के अधेरे को ऐसी मन स्थिति के साथ में दूर हटाते रहने मे ओर अपनी आन्तरिकता मे सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाते रहने मे भी सफल हो सकूगा।

मिथ्यात्व–सम्यक्त्व सघर्ष

मे जब आत्म–नियत्रण, आत्मालोचना, आत्म–समीक्षण, आत्म–चिन्तन, आत्म–दमन तथा परिमार्जन–सशोधन एव सशुद्धि की प्रक्रिया में से प्रतिदिन गुजरता रहूगा, तब मेरे भीतर मिथ्यात्व एव सम्यक्त्व का तुमुल सघर्ष आरम हो जायगा। एक ओर विषय, कषाय, काम भोग, मोह, प्रमाद आदि के रूप मे विकृत वृत्तियॉ मेरी इन्द्रियो को, मेरे मन को तथा मेरे 'मैं' को भी मिथ्यात्व की अधकारपूर्ण मोहदशा की ओर खींचेगी तो दूसरी ओर मेरी जितनी साधी हुई, जागृति होगी उसके अनुसार मेरा 'मैं' अपने आपको स्थिर रखेगा एव अपनी इन्द्रियो तथा मन को विदशा मे जाने से रोकेगा। जब तक मैं विकारो का पूरी तरह से विनाश नहीं कर लूगा तब तक अपने भीतर मे यह कठिन सघर्ष चलता ही रहेगा। कभी दो पग इधर तो कभी दो पग उधर का दृश्य पैदा होता रहेगा। कभी पाव जमेगा तो कभी उखड भी जायगा। कभी पाव जमाकर सम्यक्त्व की दिशा मे कदम बढेगे तो कभी पाव फिसल कर मिथ्यात्व की ओर झुक जायेगे। कभी–कभी तो सम्यक्त्व की दिशा मे बहुत

आगे तक बढ जाने याने कि व्रती आदि हो जाने के बाद भी ऐसी फिसलन आ सकती हे कि मैं लुढकता हुआ फिर से मिथ्यात्व के गढ्ढे मे गिर पडू। यह भीतर का द्वन्द्व बहुविध बहुरूपी बनकर चलता रहता है, किन्तु यह द्वन्द्व अवश्य ही इस तथ्य का प्रमाण होता है कि मेरे अन्त करण मे आत्म–विकास की जागृति का सूत्रपात हो चुका है।

मिथ्यात्व–सम्यक्त्व सघर्ष की वेला मे मेरा 'मैं द्विरूपी हो जाता है अथवा यो कहे कि वह दो भागो में बट जाता है। एक 'में' दूसरे से कहता है–ऐ मूर्ख, क्या सयम और साधना की बात करता है ? देख, यह मनुष्य तन मिला है–सशक्त इन्द्रियॉ ओर मस्त मन मिला है। इनको पूरी तरह काम मे ले और ससार के काम भोगो का आनन्द उठा। ऐसा तन और जीवन बार–बार नहीं मिलेगा। जवानी दो दिन मे बीत जायगी और फिर दूसरे लोगो को ये आनन्द उठाते हुए देखकर पछतायगा। तेरे तन की आज जवानी है, सुगठित स्वास्थ्य है, धन ओर सारी सुख सामग्री सामने है देखता क्या है–मस्त बन और मौज उडा। जिनेश्वरो के सिद्धान्तो का आज कोई औचित्य नही है। दूसरा 'मैं' इसे सुनता हे ओर एकदम कोई उत्तर नही दे पाता है, बल्कि विचार मे पड जाता है। तब पहला मैं' अधिक जोश से कहने लगता है–अरे, सोच मे क्या पड गया है ? यह आयु सोच करने की नही है–बैठने और चलने की भी नहीं है। यह आयु तो हजार–हजार उमगो के साथ उडने की है। सुन, कितना कर्णप्रिय सगीत आ रहा है ? सुनकर तबियत बाग–बाग हो उठती है। देख, कितनी रूपवती कन्याऍ तुझे रिझाने के लिये सामने खडी हैं ? क्या इनकी अनुपम सुन्दरता तुझे मुग्ध नही बना रही है ? सूघ, कितनी मस्त बना देने वाली इत्रो और सेटो की सुगन्ध हे ? सूघकर ही तन–मन मे मस्ती छा जाती है। तेरे सामने कितने प्रकार के सुमधुर तथा सुस्वादु व्यजन रखे हुए हैं, एक कोर चखकर तो देख–फिर कहीं उगलियॉ ही न काट खावे ? और इस शयनगृह में प्रवेश तो कर–इसकी हर सजावट का स्पर्शसुख तो महसूस कर, तेरा रोम–रोम सुख के हिंडोल में झूलने लगेगा। कुछ भी सोच मत–रग, तरग ओर उमग के इस सरोवर में आखें बन्द करके कूद जा–सुखों का पार नहीं है। इसका 'मैं ओर अधिक चिन्ताग्रस्त हो गया– तब तक वह चिन्तनमग्न नहीं हो पाया था। वह किकर्त्तव्यमूढता में पडा हुआ था। यह देखकर तो पहले 'में' का हौंसला बहुत ज्यादा बढ गया। उसने अपनी दासियो और दास को आदेश दिया कि वे इस दूसरे 'में' को पकड कर मेरे पास ले आवें, ताकि हम दोनो आलिगनबद्ध होकर एक हो जावें और ससार के भोग–परिभोग मस्त होकर भोगे।

तब दूसरा 'में कुछ जागा क्योकि उसे अपने स्थान से डिगाये जाने का खतरा पेदा हो गया था। जागा तो उसकी चिन्तन–धारा भी सक्रिय हुई। अपने भीतर ही उसने विचार शुरू किया पहले कि क्या उस 'मैं' के कहने मे कोई सच्चाई हे ? क्या मनुष्य तन ससार के काम भोग भोगने के लिये ही मिला है अथवा चार गति चौरासी लाख योनियो की यह दुर्लभ प्राप्ति, धर्म का साधन बनने के लिये बडे पुण्योदय से मिली है ? यह पुकारने वाला 'मैं' क्या अलग है और क्या 'मैं अलग हूँ ? यदि हम दोनो एक हैं तो वह मेरे से बहक कर अलग क्यो रह गया है ? क्या मेरा यह कर्त्तव्य नहीं है कि पहले तो मैं ही स्थिर बना रहू और फिर उस 'मैं' को भी अपने मे मिला लू ? हम दोनो एक ही तो हैं–वह बहका हुआ भाग और मैं सधा हुआ भाग। ज्यो–ज्यो ये प्रश्न दूसरे 'मैं' को मथने लगे, उसका चिन्तन पुष्ट होता गया। तब उसने अपनी चुप्पी तोडी। वह स्नेह भाव से मधुर स्वर मे बोला–भाई, तुम मुझे पुकार रहे हो–यह दोहरी भूल कर रहे हो। एक तो तुम खुद पदार्थ–मोह और काम भोगो मे पागल बन गये हो तो मुझे भी पतित बनने का आह्वान कर रहे हो। तुम सोचो कि क्या तुम सही जगह पर खडे हो ? क्या तुम्हे अपनी जगह से कुछ भी दिखाई दे रहा है ? जब घटाटोप अधकार मे खडे हो तो भला तुम्हे कुछ भी दिखाई थोडे ही दे रहा होगा ? देखते नहीं, मैं प्रकाश मे खडा हू–मेरी सम्यक्त्व की पवित्र जगह है और तुम मिथ्यात्व के अधेरे मे अपने आपसे विस्मृत हो। यो मानो कि तुम अधे हो और मैं दृष्टिवान्। इसलिये अच्छा होगा कि तुम ही मेरे पास चले आओ। तुम को ओर कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा होगा किन्तु में अवश्य दिखाई दे रहा होऊगा क्योकि मैं सम्यक्त्व के प्रकाश से आवृत्त हूँ। नजर उठाओ मेरी तरफ और चलना शुरू कर दो। उस जिनवाणी से विपरीत होने से अन्धकार मे हो और मैं जिनवाणी के अनुकूल श्रद्धा आदि वाला होने से प्रकाश मे हूँ।

अब पहले 'मैं' के चुप हो जाने की बारी आ गई थी। वह सोच मे पड गया कि क्या वह सही है या दूसरा 'मैं' सही कह रहा है ? उसने महसूस किया कि वह अधेरे मे खडा है। हकीकत में उसकौ कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है, लेकिन वह इस दूसरे 'मैं' को देख पा रहा है–ऐसा क्यो है ? क्या प्रकाश उसके पास है और वह सिर्फ अधेरा भोग रहा है ? उसने महसूस किया कि उसके पाव लडखडाने लगे हैं और उसका सारा शरीर कापने लगा है। वह लज्जा के मारे जमीन मे गडने लगा लेकिन यह सोचकर कुछ राहत पाने लगा कि अधेरे के कारण उसकी लज्जा दूसरे 'मैं' से छिपी हुई है।

उसका मुह खुल नही पाया और वह चुपचाप ही खडा रहा।

तब दूसरे 'मैं' ने उत्साहित होकर कहा–इसमे लज्जा की कोई बात नही है, यदि तुम अधकारपूर्ण मिथ्यात्व को पहिचान लो। देखो, मेरी आवाज सुनो और जागृति की अगडाई लो। तुम अपने चेतन स्वरूप को भूल गये हो और जड तत्त्व को अपना मान बैठे हो, इसी कारण ससार के झूठे सुखो की खोखली पैरवी कर रहे हो। तुम नही देख रहे हो कि पदार्थ–मोह से जडग्रस्त होकर पापों के पक मे गहराई तक डूब जाने की तुम तैयारी कर रहे हो। सुनो, मैं तुम्हे तुम्हारी विकृति का भान कराता हूँ जिससे तुम अपने निज के सुख तथा जड पदार्थो के सुख मे भेद कर सको और पापो के क्षेत्र से बाहर निकल कर बहुमुखी शुभता से अपने स्वरूप को उज्ज्वल बना सको।

पहला 'मैं' स्तब्ध था ओर था हतप्रभ। वह बोला कुछ नही, मगर उसने आखो ही आखो सकेत दिया कि वह पापो को त्याग कर मिथ्यात्व के अधेरे से वाकई बाहर निकल जाना चाहता है और सम्यक्त्व का प्रकाश आत्मसात् कर लेने को उत्सुक है। दूसरे 'मैं' ने तब घोर गभीर वाणी मे उद्‌बोधन दिया–मेरे भाई, ये पापपूर्ण क्रियाएँ पाप–कर्मो का बध कराती हैं और फल, बध व उदय के चक्र मे पाप से पाप बढता जाता है। इस कारण पापो के क्षेत्र को छोडो, अठारह पापो से क्रमश कठिन सघर्ष करो और अपने मूल गुणो को अपनाकर अपना वास्तविक विकास साधो।

दूसरे 'मैं' का उद्‌बोधन प्रेरणा के प्रवाह मे बहने लगा– अपने झूठे सासारिक सुखो के लोभ मे अथवा उनकी प्राप्ति या रखवाली मे जब भी तुम्हारी वृत्ति हिसा की तरफ आगे बढे तो तुम अपने आपको रोको, प्रमादवश किसी भी प्राणी के प्राणो को कष्टित बनाने के लिये आगे मत बढो और हिसा का सामना अपनी अहिसा वृत्ति से करो। अहिसा का अस्त्र तब हिसा को दूर भगा देगा और तुम अन्य प्राणियो के प्रति करुणा, सहानुभूति एव सहयोगिता से भर उठोगे। जब झूठ किसी भी स्वार्थ या कारण से तुम्हारे मन मे उतरने लगे और जीवन पर चढने लगे तो उसको दूर धक्का दे दो। उस समय सत्य का स्मरण करो और सत्य को अपनी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे रमा लो। मृषावाद दूर भाग जायगा। जब तुम अपनी अनन्त इच्छाओ के कुप्रभाव से दूसरो की प्राप्तियो को चुराना या छीनना चाहो तो अचौर्य की भावना से अभिभूत बन जाओ और विचारो कि मुझे किसी भी दूसरे प्राणी को गुलाम नहीं बनाना है, किसी के भव्य हितो को आघात नहीं पहुचाना है बल्कि दूसरो की पीड़ाओ को दूर करने के लिये मुझे कार्यरत होना हे। तब तुम शोषण या

अकार्य नही करोगे। जब तुम्हारे सामने सुन्दर कामातुर रमणिया आवे ओर काम भोगो का न्यौता देने लगे तब तुम फिसलो मत, ब्रह्मचर्य का ध्यान करो और अपने को कुशील सेवन से बचालो। सब रमणियॉ तुम्हे अपनी माता और बहिनो के समान दिखाई देगी। जब तुम्हे परिग्रह की मूर्छा सताने लगे और सोने–चादी या सत्ता–सम्पत्ति की विपुलता ललचाने लगे तो तुम मूर्छा को त्याग दो, अपनी आवश्यकताओ की न्यूनतम मर्यादाए बाध लो और परिग्रह को मिट्टी के ढेले की तरह मान लो, तब मूर्छा और मोह तुम्हारा साथ छोड देगे, तुम निस्पृह बन जाओगे।

दूसरा 'मैं' कहता जा रहा था और पहला 'मैं' भावाभिभूत बना उस प्रबोधन को तन्मयतापूर्वक सुन रहा था–जब तुम्हे क्रोध आवे, शान्त हो जाओ और उसे बाहर प्रकट मत होने दो, क्षमा के शीतल जल से क्रोध की अग्नि को तत्क्षण बुझा दो। जब मान तुम्हारी गर्दन और तुम्हारे तन को तनाव दे दे तो तुम विनम्र बन जाओ और नम्रता से मान को जीत लो। माया जब तुम्हे प्रपच रचने की कुटिल सलाह दे तब तुम उसे ठुकरा दो और अपने हितों को सरलता से सुलझा लो। लोम को तो तुम पास मे भी मत फटको और लाम के जजाल मे मत पडो अपनी सन्तोष वृत्ति से इस जजाल का एक–एक ताना बाना तोड दो। अपने सम्बन्धो या पदार्थो पर जब राग वृत्ति उमडने लगे तो वैराग्य भाव लाकर सोचो कि यह राग मेरा नहीं है, मेरा तो वैराग्य और वीतराग भाव है जिसकी आराधना से ही मेरे विकास का मार्ग निष्कटक बन सकेगा। द्वेष को भी तुरन्त दबा दो क्योकि द्वेष प्रतिशोध के लिये उतारू बनाता है। द्वेष की जगह सब पर अपने स्नेह की छाया तान दो। किसी भी कारण से किसी के भी साथ कलह मत करो–उसके स्थान पर सम्प और एकता बनाओ। तब सबके स्नेह से तुम आप्लावित हो जाओगे। किसी पर झूठा कलक मत लगाओ, किसी की चुगली मत खाओ और किसी की निन्दा मत करो। अन्दर–बाहर को दोगला मत रखो। एक वृत्ति बना लो ताकि कपट सहित झूठ बोलना भी छोड दो। और सबसे बडी बात है कि कुदेव पर श्रद्धा मत करो, कुगुरु के कहने पर मत चलो एव कुधर्म की प्रवृत्तियॉ मत अपनाओ। देव के गुणो को समझो, परीक्षा करो और सुदेव को अपनी श्रद्धा का केन्द्र बनाओ। गुरु के आत्म–विकास को परखो और सुगुरु की आज्ञा में चलो। धर्म के लक्षणो का अध्ययन करो, सुधर्म के सिद्धान्तो के मर्म को हृदयगम करो तथा उसके निर्देशो का पालन करो। इस प्रकार सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर श्रद्धा करते हुए मिथ्यात्व के अधकार से बाहर निकलो तथा सम्यक्त्व के प्रकाश मे पग धरो मेरे भाई।

इतना कहकर दूसरा 'मैं' चुप हो गया और पहले मैं' पर अपने कहने की प्रतिक्रिया देखने लगा। तब तक पहले 'मैं' का कदम आगे उठ चुका था और उसने दूसरे 'मैं' की तरफ चलना शुरू कर दिया था। थोडी ही देर मे दोनो 'मैं' गले मिल गये और सम्यक्त्व के प्रकाश मे एकमेक बन गये।

यह 'मैं' एकीभूत हो गया था, विचारो के द्वन्द्व से उबर कर समझ गया था कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण मेरा नही है। ये तो पर पदार्थों के प्रति मोह के कारण और पाप कार्यों के आचरण के कारण मेरे स्वरूप के साथ लिपट गये थे। अब मैंने अलग हो जाने के लिये कदम बढा लिया है तो मे मिथ्यात्व को पूरी तरह त्याग कर सम्यक्त्व के आलोक मे आगे बढूगा।

मेरे मन का एक तथ्य और बता दू कि एक ही सघर्ष मे मैं मिथ्यात्व पर पूर्ण विजय नहीं पा सका था। बार-बार यह द्वन्द्व मेरे भीतर उठता है किन्तु मेरा दूसरा 'मैं' बल पकडता जा रहा है, इस कारण पहले 'मैं' के बहक जाने पर वह पुन पुन उसे समझाता है और अपने मे मिलाकर साधना के पथ पर प्रगति करता रहता है।

मिथ्यात्व-सम्यक्त्व का ऐसा सघर्ष मेरे भीतर निरन्तर चल रहा है-प्रत्येक क्रिया पर चलता है, कभी उग्र होता है तो कभी मन्द, किन्तु सन्तोष का विषय यही है कि मैं प्रबुद्ध हूॅ, सदा जागृत हूॅ।

समग्र आत्माओ की एकरूपता

मैंने इस सम्पूर्ण विश्लेषण से ज्ञान किया है कि ससार मे परिभ्रमण करने वाली समग्र आत्माओ मे अपने मूल गुणो की दृष्टि से एकरूपता विद्यमान हैं जैसी कि सिद्धात्माओ की एकरूपता है। यह एकरूपता है-यह एक सत्य है।

सत्य तो है किन्तु आवश्यकता इस बात की भी हे कि में समग्र आत्माओ की इस एकरूपता को मानू। होने के साथ अगर मानना नही हो तो अभिवाछित व्यवहार का निर्माण नहीं हो सकता है। जब मैं हृदय से इस एकरूपता को स्वीकार करता हू तो मेरा आचरण इसी स्वीकृति पर आधारित होगा।

मैं तभी यह सोच पाऊगा कि मैं दु ख नहीं चाहता और सुख चाहता हू, उसी प्रकार सभी प्राणी दु ख नहीं चाहते, सुख चाहते हें तो मैं अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप मे इस बात का ध्यान रखूगा कि मैं अपनी तरफ से किसी भी

प्राणी को दु ख नही दू और अपनी शक्ति के अनुसार उनके दु ख दूर करू एव उन्हे सुख देने का प्रयास करू। मेरी यह मान्यता मेरे आचरण मे उतर कर सामाजिक व्यवहार में एक मूल्य की स्थापना करेगी। तब यह स्पष्ट होगा कि सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार एक सामाजिक मूल्य है और इसको ही आधार मान कर सभी प्राणियो को अपना पारस्परिक व्यवहार सुनिश्चित करना चाहिये। तभी सामाजिक जीवन मे अहिसा प्रवेश पा सकेगी, क्योकि सभी इस वस्तुस्थिति को मान लेगे कि किसी भी प्राणी के प्राणो को दु खित करना हिसा है तथा प्रत्येक प्राणी के प्राणो की रक्षा करना अहिसा है। अहिसा–पूर्ण व्यवहार के साथ ही इस आत्मीय भावना का विकास होगा कि जीओ और जीने दो।

यहॉ पर मैं इस तथ्य को हृदयगम करना चाहूगा कि यद्यपि व्यक्ति–व्यक्ति के सगठन से ही समाज का निर्माण होता है फिर भी व्यक्ति की शक्ति से भी ऊपर एक सामाजिक शक्ति का भी निर्माण हो जाता है। अहिसापूर्ण आचरण से प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक साथी तथा अन्य प्राणी के प्रति अपने हार्दिक सहयोग से सम्बन्धित होगा तो सम्पूर्ण सामाजिक आचरण को भी इस रूप मे ढालेगा कि वह सामाजिक शक्ति सबको आगे बढाने मे सहायक बने। व्यक्ति अपने स्तर पर कार्य करता है तो इस सामाजिक शक्ति का कार्य सभी प्राणियो को आधार मान कर सामूहिक हित के रूप मे सचालित होता है।

मैं यो मानता हू कि तब समाज और व्यक्ति एक सामूहिक शक्ति के ऐसे दो छोर बन जाते हैं जो दोनो ओर से प्राणियो को अपने व्यवहार मे विकास लाने की प्रेरणा देते हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयासो मे सलग्न होता है तो सामाजिक शक्ति के द्वारा सर्वत्र ऐसे वातावरण का विकास किया जाता है जिसमें व्यक्ति के अपने विकास के प्रयत्न अधिक सुविधा से सफल बन सकते हैं। इसे इस तरह समझे कि व्यक्ति अपने प्रयासो मे अपने पावो की शक्ति को सुदृढ बनाता है ताकि यह सुस्थिर गति से चल सके तो सामाजिक प्रयासो का यह लक्ष्य होना चाहिये कि उनके द्वारा ऊबड–खाबड व काटो भरे धरातल को समतल और साफ बनाया जाय। यदि धरातल कठिनाइयो से भरा हुआ ही रहे तो व्यक्तियो को अपनी गति बनाने में बहुत ज्यादा शक्ति का व्यय करना पडेगा और हो सकता है कि उस परिस्थिति में कई कम शक्ति वाले व्यक्ति अपनी चाल को ठीक नहीं कर पावें और उनके विकास का क्रम टूट जाय। किन्तु जब सामाजिक शक्ति के प्रयोग से सुन्दर धरातल का निर्माण हो जाय तो शक्ति के ऊचे–नीचे स्तरो पर रहे हुए व्यक्तियो को भी चलना

आसान हो जायगा। वर्तमान वातावरण की दृष्टि से मैं इसको इस रूप मे भी समझ सकता हू कि अपने नैतिक एव आध्यात्मिक प्रयासों से व्यक्ति समाज मे फैली हुई आर्थिक विषमता को दूर करने की दिशा मे कार्यरत होता है, उस समय सामाजिक प्रयासो के रूप मे समाजवाद, साम्यवाद या ऐसी ही किसी विचारधारा का प्रयोग किया जाता हे तो वह विषमता अधिक आसानी से दूर की जा सकती है। अत इस दृष्टि से समग्र आत्माओ मे एकरूपता की मान्यता समाज और व्यक्ति मे अधिक समरसता उत्पन्न कर सकती है।

दूसरा सूत्र और मेरा सकल्प

मैंने इस दूसरे सूत्र के सदर्भ मे यह जान लिया है कि मैं प्रबुद्ध और सदा जागृत हूँ। मेरा 'मैं' स्वय अपना ज्ञाता है और इसी कारण वह सदा जागृत रह सकता है। जो अपने को जान लेता है, वह सबको जान लेता हे तथा जो सबको जान लेता है, वह अपने को भी जान लेता है। स्वरूप ज्ञान ही वास्तव मे विश्व–ज्ञान होता है। स्वरूप दर्शन ही जगत्–दर्शन है। इस कारण में सोच लेता हू कि इस ससार मे मेरा अपना क्या हे तथा क्या मेरा नहीं है। जीव और अजीव की युति मे अपने निज के स्वरूप को मैं समझ लेता हूँ और जड तत्त्व को समझ कर उससे सम्बन्ध त्यागने के सारे यत्न आरभ कर देता हूँ। इस दृष्टि से एक ओर मैं पदार्थ–मोह को छोडता हूँ और अपने शरीर पर से भी ममता हटाता हू तो दूसरी ओर पदार्थ–मोह के कारण पेदा होने वाली अपनी विकार वृत्तियो को भी मैं परिमार्जित, सशोधित एव सशुद्ध बनाता हूँ। ये ही वे यत्न हैं जिनके कारण मैं मानता हू कि मेरा आत्म–स्वरूप उज्ज्वल बनेगा तथा मेरी आत्मा मुक्ति के गतव्य की दिशा मे आगे बढेगी।

अत मैं सकल्प लेता हूँ कि ससार के जड पदार्थों को मैं कभी अपने नहीं मानूगा। अपने ही शरीर को भी अपना नहीं मानूगा। नहीं मानने के साथ ही मैं इन पर से अपना ममत्व भी घटाते हुए नष्ट कर दूगा। मोहग्रस्तता से उत्पन्न मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण को भी मैं अपना नही मानूगा तथा सम्पूर्ण मिथ्यात्व के अधकार से बाहर निकलूगा एव अपने मन, वचन एव कर्म की क्रियाओ के कारण पुन उस अधकार मे नही जाऊगा।

में सकल्प लेता हू कि पर–पदार्थ के प्रति उपजे अपने प्रगाढ मोह को अपनी साधना के अभ्यास से समाप्त करके एव पाप कार्यो से शनै शनै ही सही पीछे हटकर मैं सम्यक्त्व के आलोक मे पग धरूगा तथा सदा सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण से अनुप्राणित रहूगा। मैं अपने सम्यक्त्व की अवधारणा को नवतत्त्व के ज्ञान पर आधारित रखूगा ताकि वह